हम हिन्दुस्तानी

फ़िक्र तौंसवी

प्रगतिशील प्रकाशन, दिल्ली

अपनी प्यारी बेटी रानी के नाम

यह बारह हिन्दुस्तानी :

यह पुस्तक जिसे आप पढ़ने बैठे हैं, मैंने इसलिए लिखी है, ताकि आप इसे पढ़ें। (खरीद कर पढ़ें या माँग-ताँगकर इसकी आपको आज़ादी है)।

इस पुस्तक में बारह हिन्दुस्तानियों की तस्वीरें हैं। वैसे हिन्दुस्तान में चवालिस करोड़ व्यक्ति रहते हैं, किंतु मैंने सिर्फ बारह व्यक्तियों का चित्रण किया है, क्योंकि मेरा विचार है, कि इन बारह गागरों में चवालिस करोड़ सागर समाए हुए हैं। (अपना-अपना विचार है)।

इस प्रकार यह सिर्फ बारह व्यक्तियों की तस्वीरें नहीं हैं, बल्कि हम सब की तस्वीरें हैं। यह व्यक्ति आइने हैं, जिसमें आपकी कामनाएँ झलकती हैं। यह व्यक्ति कामनाएँ हैं, जो आपके आइने में झलकते हैं। आप इन व्यक्तियों को इतनी अच्छी तरह जानते हैं, जितना अपने बच्चे को, अपनी प्रेमिका को, अपने मित्र को, अपने सुंदर फ़ोटोग्राफ को, अपनी रिस्टवाच को, अपनी चारपाई को, जिस पर लेटते ही आपको सुख की नींद आने लगती है।

आम-तौर पर जब कोई पुस्तक लिखी जाती है, तो बेचारा! लेखक कहता है—"पाठको! पुस्तक अच्छी है या बुरी, इसका फैसला मैं आप पर छोड़ता हूँ।" लेकिन मैं ऐसा नहीं कह सकता, क्योंकि मैं लेखक तो ज़रूर हूँ मगर 'बेचारा' नहीं। यदि लेखक अपने पाठक को नहीं समझ सकता तो कभी भी एक अच्छी पुस्तक नहीं लिख सकता। जो आदमी अपने पाठकों को नहीं जानता, उसे आलोचक कहते हैं, लेखक नहीं।
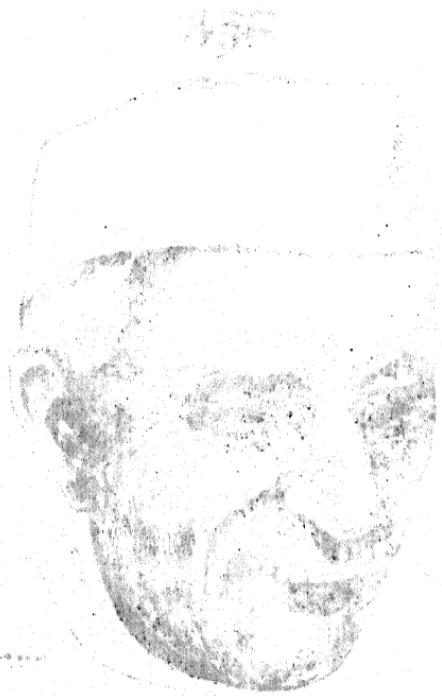
मैंने आरंभ के ये शब्द सिर्फ रिवाज के तौर पर लिख दिए हैं। क्या किया जाय? यह रिवाजों की दुनिया है, और हम सबको इसी दुनिया में रहना है।...

—फ़िक्र तौंसवी

"—जब एक साधारण हिन्दुस्तानी यह सुनता है कि पं० नेहरू प्रतिदिन शीर्षासन करता है, तो वह उसे एक लाख वर्ष पुराना ऋषि मालूम देने लगता है, जो सैंकड़ों वर्षों तक एक वृक्ष के नीचे खड़े होकर केवल वायु पर ही गुजारा किया करते थे···"

नेहरू

सन् १८८९ की एक बेचैन रात को आकाश से एक तारा टूटा। एक बूढ़े ग्रामीण किसान ने बताया कि उसने उस तारे को इलाहाबाद शहर की तरफ जाते देखा है।

उन दिनों (सुना है) सूर्य महारानी विक्टोरिया की आज्ञा से डूबता-निकलता था। हिन्दुस्तान उन दिनों महारानी विक्टोरिया का गुलाम था। महारानी का खयाल था, कि हिन्दुस्तान के अतिरिक्त हिन्दुस्तान के ऊपर जो आकाश है, वह भी उसी का गुलाम है। लेकिन आकाश से जब यह तारा टूटा तो महारानी को मालूम तक न हुआ, और बाद में यही अज्ञान महारानी के अंत का कारण बना।

हम यह नहीं कहते कि इलाहाबाद का वह घराना, जहाँ यह तारा दाखिल हुआ, नन्द ग्वाले का घराना था। वह एक हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध और सिद्ध कश्मीरी ब्राह्मण पं० मोतीलाल बैरिस्टर का घराना था। यद्यपि नन्द ग्वाले और मोतीलाल नेहरू में एक चीज बराबर थी—वह यह कि दोनों के यहाँ दूध और घी की रेल-पेल थी। चाँदी के रुपये उनके यहाँ पानी भरते थे। मोतीलाल का बेटा भी शहज़ादगी से नहीं बच सका। जैसे नन्द ग्वाले के बेटे को कंस के घर जा कर उससे गद्दी छीननी थी, उसी तरह मोतीलाल नेहरू ने भी अपने बेटे को महारानी विक्टोरिया के घर भेज दिया, ताकि वह उससे गद्दी छीन लाए।

और आख़िर १९४७ की एक सुहावनी शाम को शहज़ादा नेहरू लड़-भिड़कर महारानी विक्टोरिया से गद्दी छीन लाया और उस पर आरूढ़ हो गया और बेताज बादशाह को ताजदार बादशाह बनना पड़ा।

कुछ लोग आज भी एतराज़ करते हैं—"पंडित नेहरू की आत्मा एक शहज़ादे की आत्मा है, इसलिए वह जनता की नज़र में चाहे खद्दर ही क्यों न पहन ले, वह जनता की असली समस्याओं की तह तक नहीं पहुँच सकता।"

शायद यह एतराज़ ग़लत है, या शायद ग़लत न हो। दोनों चीज़ें ठीक हो सकती हैं, क्योंकि वह दो दुनियाओं के बीच में खड़ा है। एक दुनिया वह जो शहज़ादों की है, जो ख़त्म हो रही और दूसरी वह दुनिया जो ख़ालिस जनता की है, उभर रही है, और पंडित नेहरू दोनों किश्तियों में सवार है। वह दोनों को पार लगाना चाहता है। वह एक चप्पू शहज़ादों की किश्ती को लगाना चाहता है और दूसरा जनता की किश्ती को, और हर किश्ती को चप्पू लगाते समय वह नारा लगाता है—"जियो और जीने दो!"

और कहता है—"यह शिक्षा मैंने गांधी जी से पाई है।" गांधी जी पंडित नेहरू के द्रोणाचार्य थे!

ज़रा यह दृश्य देखिए।—पंडित नेहरू हैदराबाद दक्षिण का दौरा करते हैं, और यह देखकर कि शहज़ादा बरार राजमहल की बालकोनी में खड़ा है और अपने खोए हुये राज्य पर आँसू बहा रहा है, पंडित नेहरू का गला भर आता है, और वह कहते हैं—

"बरार के माननीय शहज़ादे क्यों रोते हो?"

"तुमने मेरी शहज़ादगी छीन ली है और अब मेरी इज्ज़त दो कोड़ी की भी नहीं रही।"

"घबराओ नहीं शहज़ादे, मैं तुम्हारा प्रिवी-पर्स लगा देता हूँ। भारतीय संस्कृति के अनुसार एक शहज़ादे का हक है कि वह शहज़ादों की सी ज़िन्दगी बिताए।"

"तुम कितने अच्छे हो शहज़ादे नेहरू !"

"मुझे शहज़ादा मत कहो। मेरी डेमोक्रेटिक स्पिरिट की बेइज्ज़ती मत करो। अपना प्रिवी-पर्स लो और चुप हो जाओ।"

दृश्य फिर बदलता है।

पंडित नेहरू बिहार की मजदूर-बस्तियों का दौरा करते हैं, और सिटपिटा कर कहते हैं।

"यह क्या है ?···यह अंधेरा······यह गंदगी, यह पिछड़ापन ! यह सब क्या है ? इनको बदल दो······बदल दो इन्हें ! ···· मैं इन तंग और अंधेरी झोंपड़ियों का प्रधान-मंत्री नहीं रहना चाहता !"

और यह कहने के पश्चात उसका गला भर आता है, और झोंपड़ियों से एक मन-पसन्द नारा उभरता है—

"जनता के प्रिय लीडर पंडित नेहरू की जै !"

कोई भी आदमी इन दो आँसुओं का कैमीकल विश्लेषण नहीं कर सकता, जिसमें से एक शहज़ादा बरार के लिये बहता है और दूसरा बिहार के मज़दूरों के लिए। कुछ लोग कहते हैं; कि पंडित नेहरू हिन्दुस्तान को तबाही की ओर ले जा रहा है, और कुछ लोग कहते हैं कि यदि पंडित नेहरू न होता तो हिन्दुस्तान तबाह हो जाता !··· और पंडित नेहरू मुस्करा कर कहता है—

"मैंने खोए हुए हिन्दुस्तान को तलाश किया है। मैंने उसकी आत्मा को पहचान लिया है। जब मैं बोलता हूँ, तो हिन्दुस्तान बोलता है ! जब मैं सोचता हूँ तो हिन्दुस्तान सोचता है ! मैं अपनी आवाज़ नहीं हूँ, गुम्बद की आवाज़ हूँ। हिन्दुस्तान एक बहुत बड़ा गुम्बद है। जैसी कहो, वैसी सुनो। राम, बुद्ध, नानक, गांधी ···· (और अब मैं) नम्रता, प्यार, भाई-चारा, सूझ-बूझ, जिसमें सन्तुलन हो, जिसमें गर्मी भी हो; जिसमें आज्ञा भी हो और आधीनता भी हो; जिसे भ्रष्टाचारों पर गुस्सा भी आए और दया भी; और यदि तुम समझते हो कि यही हिन्दुस्तानी कल्चर है तो फिर मेरी जै बोलो ! नहीं तो, किसी और

को प्रधान-मंत्री बना लो……!"

अंग्रेज, अमरीकी, रूसी, चीनी—हर एक ने इस 'कल्चर' को समझने की कोशिश की। किन्तु आखिर थक-हार कर बैठ गए और उकता कर मान गए कि नेहरू कोई बड़ी बात कर रहा है। इसलिए वह जरूर कोई बड़ा आदमी है!

मगर नेहरू भी शहज़ादा है। आप उसका भाषण सुनें। एक ऑटोमेटिक मशीन की तरह उसकी ज़बान से ये वाक्य जरूर फिसल कर बाहर गिर पड़ेंगे—

"हमें बड़े-बड़े काम करने हैं। बड़ी-बड़ी बातें हैं। बड़ी-बड़ी समस्याएँ हैं हमारे सामने…तो मैं कहता हूँ कि तुम छोटी-छोटी बातों में क्यों फंसे हुए हो? छोटे-छोटे झगड़े क्यों करते हो?"

मानों छोटी बातें उसे पसन्द नहीं, क्योंकि वह स्वयं बड़ा है। एक शहज़ादा है! और एक शहज़ादा बड़े कामों के बारे में ही सोच सकता है। बड़ा महल, बड़ा फाटक, बड़ी बिल्डिग, बड़ी कार! इसलिए वह छोटी-छोटी बातों से चिढ़ जाता है। आप पंडित नेहरू से जा कर यह नहीं कह सकते कि मैं एक छोटा सा खौमचा लगाता हूँ और पुलिस मुझे तंग करती है, मेरे छोटे से बच्चे को छोटे से प्राइमरी स्कूल में दाख़िला नहीं मिलता, उसे दाख़िल करा दीजिए। यद्यपि दूसरी ओर यह भी ठीक ही है कि वह शेर के बच्चे से बच्चों की तरह खेलता है। एक छोटी सी झोंपड़ी में बिना संकोच के घुस जाता है। एक छोटी सी साइकिल के पुर्ज़ों को ग़ौर से देखता है। छोटे बच्चों के साथ बैठकर तस्वीर खिचवा लेता है, और छोटे बच्चों का चाचा नेहरू बन कर बच्चों की तरह उछलता-कूदता है। एक ओर यदि वह उच्च कोटि के राज-नीतिज्ञों,—आइज़नहावर, ख्रुश्चेव, और मैकमिलन—के साथ बैठकर मानव-समस्याओं पर बूढ़ों की सी संजीदगी से बहस करता है, तो दूसरी ओर वह किसी चारपाई बनाने वाले की दुकान पर उद्घाटन करने भी पहुँच जाता है, और उससे कहता है—

"चारपाई हमारे हिन्दुस्तान का कल्चर है। खूब चारपाइयाँ बनाओ, अच्छी-अच्छी बनाओ, बड़ी-बड़ी बनाओ, ताकि कोई हिन्दुस्तानी चारपाई के बिना ना रहने पाए। मैं फुटपाथ पर जब लोगों को सोते देखता हूँ, तो मेरा दिल खौल उठता है।"

वास्तव में खौलाव उसकी प्राकृतिक विशेषता है—जैसे बादल की विशेषता उसकी गर्जना है, और आग की विशेषता उसकी उष्णता। कश्मीरी खून ने तो उसे शहज़ादे का सा रंग-रूप दिया है और मस्तिष्क को बादाम और सेवों का प्रभाव, किन्तु गंगा और जमुना की गर्म वादियों ने उसे उष्णता दी। हर कश्मीरी की यह विशेषता है कि वह दफ्तरों और दूसरे विभागों में ऐसा घर कर जाता है कि वहाँ से कभी नहीं निकल पाता; और पंडित नेहरू की भी यह विशेषता है कि वह दिल व दिमाग़ में ऐसा घर कर जाता है कि अब निकलने में ही नहीं आता! लेकिन गंगा और जमुना की वादी की भेंट की हुई उष्णता, उसे कभी-कभी पारा बना देती है। अतएव जब वह पारे की तरह तड़पता है तो दौड़कर किसी जलसे के स्थान पर पहुँच जाता है; और माइक्रोफ़ोन पकड़ कर अपने दिल का ग़ुबार निकाल देता है।

जनता उसकी कमज़ोरी है। वही उसके गुस्से को प्यार भी करती है। यही कारण है कि वह भी अपना दुःख दूर करने लिये सदा जनता के पास चला जाता है।

लेकिन कभी-कभी जब उसके अन्दर छुपा, उच्च जाति का शहज़ादा जाग उठता है, तो वह जनता का सहारा लेना भी पसन्द नहीं करता, बल्कि वह किसी पहाड़ी स्थान पर चला जाता है; ताकि वहाँ जाकर अपने दिल और दिमाग़ को ठंडा कर सके।

पहाड़ भी ऊँचा है, नेहरू भी ऊँचा शहज़ादा है। ऊँचाई से ऊँचाई मिल जाती है। माया को माया मिल जाती है; और ग़रीब तुलसीदास नीचे किसी तंग और अँधेरी गली में पड़ा रह जाता है।

किन्तु ऊँचाई उसे सान्त्वना दे देती है क्या?—नहीं। उसे कहीं

जा कर भी सान्त्वना नहीं मिलती, क्योंकि वह त्यागी साधू नहीं है। पक्का रोकाँट-वासी संत नहीं, बल्कि वह एक खिलंडरा शहज़ादा है। इसलिए पहाड़ की ऊँचाई पर जा कर भी वह खिलंडरेपन के बिना नहीं रह सकता। उसे वहां भी जनता घेर लेती है। पहाड़ी जनता उसे पहाड़ी पहनावा पहना देती है, पहाड़ी याक पर बैठा देती है, और वह यह पहाड़ी कपड़े पहनकर, पहाड़ी याक पर बैठकर बहुत खुश होता है। भोले बच्चों और रंगीन गुब्बारों की तरह फूल जाता है, और हवा में उड़ता है, और फ़ोटो खिचवाता है; और यह सोच कर वापिस दिल्ली आ जाता है कि उसका गुस्सा उचित नहीं था। जो जनता उससे इतना प्यार करती है, वह क्या उनके लिए अपना गुस्सा भी नहीं पी सकता?

अतः हमने देखा है, कि प्रधानमंत्री बनते ही उसने अपने ग़ुस्से पर काबू पाना शुरू कर दिया है। इस से उसे यह नुक्सान ज़रूर हुआ है कि अब वह केवल जनता पर ही गुस्सा नहीं करता, बल्कि विशेष व्यक्तियों पर भी नहीं करता!—वे व्यक्ति, जिन्होंने उसकी जनता का अजीरन कर रखा है। वह उपदेश देता है—

"ऐ लोगों! प्रत्येक वस्तु को संतुलित दिल और दिमाग़ से देखो। गर्म होने की ज़रूरत नहीं। गर्मी से गिरावट का ख़तरा पैदा हो जाता है। किन्तु हमें तो उठना है, गिरना नहीं है··"

इसलिए यदि उसे यह मालूम हो जाय कि एक आदमी ने एक करोड़ रुपये का 'स्कैण्डल' किया है, तो पंडित नेहरू की आवाज़ कुछ यूं निकलेगी—

"ठहरो लोगों! गुस्से में मत आओ। स्कैंडल की पड़ताल धीरे-धीरे होनी चाहिए, ताकि किसी अपराधी के साथ बेइन्साफ़ी ना हो जाय। फिर यह भी तो देखो, कि स्कैंडल करने वाले व्यक्ति में कितनी विशेषताएँ हैं; जैसे वह बिस्कुट कितने अच्छे बनाना जानता है! इसलिए हम उसे सज़ा नहीं देंगे, बल्कि उसकी विशेषताओं से फ़ायदा उठाएँगे। उससे बिस्कुट बनवाएँगे······"

यह संतुलन उसमें कहाँ से आया ? क्या गांधी जी ने दिया ? क्या कश्मीरी खून ने दिया ? क्या प्रधानमंत्री की ज़िम्मेदारियों ने दिया ? क्या अंग्रेज़ी शिक्षा ने दिया ? क्या बदलते हुए बुढ़ापे ने दिया ?—कोई नहीं कह सकता कि इस संतुलन का सूत्र कहाँ है ? लेकिन यह एक वास्तविकता है कि उसके इस संतुलन ने जो अब कभी-कभी आध्यात्मिक स्तरों को भी छू लेता है—हमसे असली और स्वाभाविक नेहरू छीन लिया है, और हमारे हाथों में एक डिप्लोमेटिक नेहरू दे दिया है, जिसमें बुद्ध की सी शान्ति, गाँधी जी की सी गहराई, अंग्रेज़ों का सा गणतंत्र फैलाव, साम्यवादियों का सा परिश्रम और शायर की सी घुलावट मौजूद है। वह हिन्दुस्तान का एक ऐसा मॉडर्न हीरो है, जिसे नर्मी और गर्मी, दोनों ने गंदा है। विपक्षता की यह राजनीति ऐसे ही हीरो की रगों से फूट सकती है।

शीर्षासन······!

गुलाब का फूल······!!

काली छड़ी······!!!

मेरा ख़याल है, कि इन तीन चीजों से पंडित नेहरू का व्यक्तित्व पूरा हो जाता है। छड़ी उसके बुढ़ापे की लाठी नहीं है, बल्कि उसकी जवानी की निशानी है, क्योंकि वह छड़ी बूढ़ों की लाठियों की तरह टेकने के काम नहीं आती, बल्कि जवानों की तरह नचाने और घुमाने के काम आती है। इसलिए सत्तर वर्ष के बाद भी वह जवान है! वह हिन्दुस्तान का अकेला बूढ़ा है, जिसे नौजवानों ने अपना पथ-प्रदर्शक मान लिया है। (हालाँकि सारे नौजवान कब मानते हैं ?) यद्यपि कुछ सुलझे हुए नौजवान कभी-कभी उसकी नर्मी पर सख्त कुढ़ते हैं। कॉफ़ी हाउसों और क्लबों में उस पर बड़े रिमार्कस कसते हैं, लेकिन वह ज्यूंही वह छड़ी हाथ में घुमाता हुआ तीर की तरह सीधा खड़ा होकर उनके सामने आता है, एक बार तो उन नौजवानों का कलेजा भी प्यार के उफान से धक-धक करने लगता है और वह

यह सोचने लगते हैं—"बड़ा अलबेला इन्सान है यह ! इसलिए हम इसी का साथ देंगे, क्योंकि यह अपना यार-बेली लगता है !"

मतलब यह है कि छड़ी उसकी ताकत की निशानी है और ताकत चाहे कैसी भी हो, लोग उसके सामने हमेशा सिर झुकाते हैं ।

दूसरी निशानी है गुलाब का फूल—जो इस बात को व्यक्त करता है कि पंडित नेहरू के चरित्र में एक भीनी-भीनी खुशबू है । एक धीमा-धीमा खुशगवार रँग है और एक लस-लस करती हुई नर्मी है । अपने चरित्र के इस रँग, खुशबू और नर्मी से उसने बड़े से बड़े शत्रु को अपनी ओर झुका लिया है । शायद उसका खयाल है कि इन्सान का भविष्य गुलाब के फूल की तरह सुन्दर, रँगीन और आकर्षक है और शायद इसीलिए वह एक आदर्शवादी है । वह एक सुन्दर सपना देख रहा है और काँटों से आँखें मूंद कर देख रहा है ! (शायद अरस्तु के 'यूटोपिया' से प्रभावित है) । ऐ परमात्मा ! उसके सुन्दर सपने का परिणाम भी सुन्दर ही निकालना ।

और फिर उसका शीर्षासन—जिसके पीछे हिन्दुस्तान की तपस्या-फिलासफी भी काम कर रही है । चूंकि वह हिन्दुस्तानी है, इसलिए वह लाख मॉर्डन साइंस के गुण गाए, लेकिन लाखों वर्ष पहले का कोई ऋषि भी उसकी रगों में मौजूद है,जो अपने आप को तकलीफ़ देकर आत्मिक सुख-शान्ति प्राप्त करने के लिए कोशिश करता है । वह शीर्षासन करके अपने शरीर और अपने मस्तिष्क की साइंटिफ़िक तरीके से रक्षा करता है, लेकिन जब एक साधारण हिन्दुस्तानी यह सुनता है कि पंडित नेहरू हर रोज शीर्षासन करता है तो वह उसे एक लाख वर्ष पुराना ऋषि मालूम देने लगता है, जो सैंकड़ों वर्षों तक एक पेड़ के नीचे खड़े होकर केवल वायु पर ही गुजारा किया करते थे । फिर विष्णु भगवान मजबूर होकर उसके पास आता था और कहता था—'माँग क्या माँगता है ?'

हिन्दुस्तान की आत्मिक फ़िलासफी व योरुप की औद्योगिक

फ़िलासफ़ी—इन दोनों के मिश्रण से नेहरू का ख़मीर उठा है। गँगा को वह धार्मिक रूप नहीं देता, लेकिन गँगा का पानी उसे हमेशा मीठा और कोमल लगता है। वह मकबरों पर फूल चढ़ाता है तो फ़ौलाद की फैक्टरी पर भी फूल चढ़ाता है—और दोनों से शक्ति प्राप्त करता है। ज्योतिषी कहते हैं कि वह एक भाग्यशाली इन्सान है, क्योंकि सारे भाग्यवान तारे उसके खाने में एक साथ आ बैठे हैं, और पंडित नेहरू यद्यपि इन ज्योतिषियों की हँसी उड़ाता है—लेकिन ज्योतिषी कहते हैं कि हमारा ज्योतिष गलत हो सकता है, लेकिन पंडित नेहरू के हाथ कंगन की आरसी तो गलत नहीं हो सकती ?

—और जिस देहाती किसान ने एक तारे को आसमान से टूटकर इलाहाबाद की तरफ जाते देखा था वह भी ज्योतिषी नहीं था, लेकिन उसने वह समय भी अपनी आँखों से देखा, जब अँग्रेज लॉर्ड माउंट बैटन पं० नेहरू के लिये गद्दी खाली करके वापिस लंदन जा रहा था।

पंडित नेहरू के बाद हिन्दुस्तान का भविष्य क्या होगा ? इसके बारे में बड़े-बड़े राजनीतिक ज्योतिषी परेशान हैं, मगर मैं तो केवल यह सोच कर संतुष्ट हो जाता हूँ कि आकाश से तारों का टूटना कभी बंद नहीं हुआ······।

नम्बूदरीपाद

"—हिन्दुस्तान में कुल चौदह दुकानें है। तेरह काँग्रेस की हैं, एक हम कम्युनिस्टों की है। मैं कहता हूँ आप तेरह दुकानें चलाइए, हमें कोई आपत्ति नहीं; परन्तु एक दुकान हमारी भी चलने दीजिए..."

नम्बूदरीपाद

"बिल्कुल पागल है"—एक बूढ़ नम्बूदरी ब्राह्मण ने अपना फैसला देते हुए कहा । "हाँ जी, अब नम्बूदरियों में ऐसे पुत्र भी पैदा होने लगे कि बाप-दादा की सारी सम्पत्ति एक पल में लुटादें और फिर भी कहें कि हम तो विद्वान ब्राह्मण हैं ।" दूसरे ब्राह्मण ने आह भरते हुए कहा ।

"अजी आजकल के विद्वान !—अंग्रेज़ी की एक दो पुस्तकें पढ़ लीं और सम्पत्ति-दान शुरू कर दिया । अरे मैं पूछूँ ब्राह्मण का धर्म क्या है ?—दान देना या दान लेना ? लेकिन ब्राह्मण पुत्र शंकरन ने उल्टी गँगा चला दी—अर्थात दान लेने की बजाय दान देना शुरू कर दिया । मुझे डर है कि ब्राह्मण कलियुग में अपना धर्म भी भूल गए हैं, और आज न डूबे तो कल जरूर डूब जाएँगे ।"

"भगवान रक्षा करे इनकी । आज ब्राह्मणों को एक बार फिर परशुराम के फरसे की आवश्यकता है, ताकि वह इन क्षत्रियों—अर्थात कम्युनिस्टों से छुटकारा दिलाए ।"

अरब सागर के किनारे बसे हुए सुन्दर और मनोरंजक मालाबार के एक हरे-भरे खेत में खड़े होकर दो बूढ़े नम्बूदबूरी ब्राह्मण जब इस प्रकार बात कर रहे थे, उस वक्त सत्ताइस वर्ष का नौजवान नम्बूदरी

ब्राह्मण, कॉमरेड शंकरन् नम्बूदरीपाद अपनी शानदार खान्दानी हवेली छोड़कर पार्टी कम्यून की तरफ जा रहा था—पत्नी और बच्चों को अपने साथ लिए मुस्कराता और गुनगुनाता हुआ ! वह एक दिन पहले ही अपनी लाखों की सम्पत्ति बेचकर कम्युनिस्ट पार्टी को दान में दे चुका था और मालाबार के बूढ़े नम्बूदरी ब्राह्मणों में हलचल मच गई थी, कि नम्बूदरी ब्राह्मण भी अगर दान लेने के बजाय दान देने लगे हैं, तो समझो बुरे दिन निकट आ पहुँचे हैं, और यह शगुन अच्छा नहीं है ।

शगुन अच्छा था या बुरा—मगर कॉमरेड नम्बूदरीपाद जो कदम उठा चुका था वह उसे वापिस नहीं ले सकता था, क्योंकि उसका विचार था कि यदि उच्चजाति के दुर्भाग्य के दिन निकट आ ही पहुँचे तो मैं उन्हें क्यों रोकूँ ? इतिहास के अश्व-मेघ यज्ञ के घोड़े की बाग किसने पकड़ी है ? जो पकड़ेगा, पीछे हटा दिया जाएगा !

कॉमरेड नम्बूदरीपाद जो कम्यूनिस्ट सर्किल में ई० एम० एस० के रहस्यपूर्ण नाम से पुकारा जाता है, देहली राजधानी में यूँ तो कई बार आया और चला गया, मगर किसी को पता नहीं था कि नम्बूदरीपाद कौन है । "होगा कोई कम्यूनिस्ट" देहली वाले लापरवाही से कहा करते । परन्तु अकस्मात एक दिन समाचार आया कि केरल-प्रदेश में कम्यूनिस्ट राज्य स्थापित हो गया है और इसका सेहरा एक नम्बूदरी ब्राह्मण कॉमरेड नम्बूदरीपाद पर है ।

"कौन है नम्बूदरीपाद?" राजधानी एक प्रश्न बन कर पूछने लगी । "कैसी शक्ल है उसकी ? कैसी बातें करता है ? कपड़े कैसे पहनता है ? जरूर कोई छुपा रुस्तम होगा, जिसने कांग्रेस के बड़े-बड़े महारथियों को पछाड़ दिया । उसके दर्शन करने चाहिएँ ।"

—और फिर एक दिन यह 'छुपा रुस्तम' एक कम्युनिस्ट विजेता के रूप में राजधानी दिल्ली में दाखिल हुआ । हिन्दुस्तान का पहला कम्युनिस्ट मुख्यमंत्री ! ठिगने कद का एक अधेड़-उम्र मनुष्य, एक

साधारण सी सफेद धोती-कुर्ता पहने हुए जलसे के रँगमँच पर प्रगट हुआ, जिसके दर्शनों को सारी देहली उमड़ पड़ी थी और वह साफ़, खरे, परन्तु दृढ़ मुद्रा में अत्यंत सादगी के साथ कह रहा था—

"हिन्दुस्तान में कुल चौदह दुकानें हैं। तेरह काँग्रेस की हैं, एक हम कम्युनिस्टों की है। मैं कहता हूँ आप तेरह दुकानें चलाइए, हमें कोई आपत्ति नहीं, परन्तु एक दुकान हमारी भी चलने दीजिए। हम साफ़-सुथरा खरा माल बेचेंगे। मिलावट नहीं करेंगे। ब्लैक नहीं करेंगे। ग्राहक के पैसे का पूरा माल देंगे और यह बात ग्राहक पर छोड़ दीजिए कि वह जिस दुकान से चाहे माल खरीदे, क्योंकि यही प्रजातंत्र है कि ग्राहक को जहाँ से अच्छा और खरा माल मिले वह वहीं से खरीदे।" और एकत्रित लोगों ने प्रसन्नतापूर्वक उत्साहपूर्ण तालियां बजाईं।

"यह कैसा कम्युनिस्ट है?" लोगों ने सोचा—"न मुक्का दिखाता है, न धमकी देता है, न तलवार घुमाता है, न गुस्सा दिखाता है, न भड़काता है, बड़ा शरीफ़ और सभ्य मनुष्य है। कम्युनिस्ट तो मालूम ही नहीं देता!"

हाँ, नम्बूदरीपाद एकमात्र कम्युनिस्ट है, जिसे देखकर हिन्दुस्तान के पूँजीपति लीडर भी घबरा गए क्योंकि यही एक कम्युनिस्ट है जिसके विषय में वह गलत प्रोपेगंडा भी नहीं कर सकते, क्योंकि जनता चाहे और कुछ भी मान ले, मगर नम्बूदरीपाद के विरुद्ध एक शब्द भी सुनना पसंद नहीं कर सकती। कहना चाहिए कि नम्बूदरी-पाद ने बुर्जुवा लीडरों के हाथ से एक जबरदस्त हथियार छीन लिया है।

नम्बूदरीपाद कैसे केरल का मुख्यमंत्री बन गया, यह एक लम्बी कहानी है। यूँ समझ लीजिए कि यह उच्च-वंशीय ब्राह्मण लड़का हमेशा चमारों के लड़कों के साथ खेलने के लिए निकल जाता था। नम्बूदरी के पिता जी कहा करते,—"शंकरन् बेटा, चमारों में घूमते

हो तो उच्च ब्राह्मण-परिवार की मानों लाज गवाँते हो। तुम उच्च जाति के लड़के हो, तुम्हें ऊँची जाति वालों के साथ घूमना चाहिए। हमारा धर्म है, कि नीच जाति से तीन गज दूर रहें।"

और भोला-भाला शंकरन् कहता —"नीच कौन होता है, पिता जी, और ऊँच कौन है?"—और शंकरन् के पिता जी बड़ी-बड़ी पुस्तकों में से पढ़ कर बताते की नम्बूदरी ब्राह्मण कौन होते हैं और चमार कौन। हमारा खान्दान तो मालाबार के क्षेत्र के उन पाँच बड़े वंशों में से एक है जो हजारों एकड़ भूमि के मालिक हैं और यह नीच जाति के चमार वह हैं जिनके पास एक इंच भूमि भी नहीं। ऊँच और नीच में यही अन्तर होता है, शंकरन्!"

मगर शंकरन् की समझ में ऊँच-नीच की फ़िलासफी नहीं आई और वह चमार बच्चों से सामन्य रूप से खेलता रहा और खेलते-खेलते जब मद्रास के अत्युत्तम कालिज में शिक्षा पाने के लिए गया तो उसे ज्ञात हुआ कि ऊँच-नीच क्या होती है। "यह ऊँच-नीच खत्म होनी चाहिए।" उसने फैसला किया—

"यही भूमि ऊँच-नीच की जड़ है। उसे पास रखकर मैं ऊँच जाति का ब्राह्मण नहीं रहूंगा, बल्कि भूमिहीन चमारों के स्तर तक आ जाऊँगा, तो कोई भेद नहीं रहेगा।"

अतः उसने सारी भूमि कम्युनिस्ट पार्टी को दान कर दी, और फिर उसके पास कुछ नहीं रहा। ऊँच मिट गई, और वह अपने कॉमरेडों के पार्टी-कम्यून में आकर रहने लगा। कम्यून की चाय और कम्यून का रूखा-सूखा खाना। खुद भी वही खाना खाता, पत्नी को वही खाना खिलाता और बच्चों को भी।

एक बार मैंने एक कम्युनिस्ट मित्र से जो नम्बूदरीपाद के साथ तीन साल तक कम्यून में रहा है, पूछा—"ई० एम० एस० किस प्रकार का खाना पसंद करता है? मेरा अभिप्राय है कि किस तरह का खाना ज्यादा शौक और रुचि-पूर्वक खाता है?"

मेरा कम्यूनिस्ट मित्र मुस्कराया और बोला—"रुचि ? मुझे तो तीन साल तक पता नहीं चला कि ई० एम० एस० का रुचिकर भोजन कौन सा है ? जो चीज़ पक कर सामने आ जाए, उसे रुचि-पूर्वक खा लेता है। किसी खाने पर अच्छी या बुरी टीका-टिप्पणी नहीं करता। कोई चीज़ खाने से इंकार नहीं करता—केवल माँस के अतिरिक्त।"

"जिस प्रकार का खाना पार्टी दे सकती है, वह ही उसका रुचिकर भोजन है"—वह कहने लगा—"क्योंकि वह अपना अस्तित्व पार्टी को सौंप चुका है। "उसका अपना अलग कोई अस्तित्व नहीं। वह सच्चे अर्थों में त्यागी कम्युनिस्ट ब्राह्मण है। अपने कपड़े आप धोता है, अपनी झूठी प्लेट आप साफ करता है, अपना बिस्तर जो केवल एक कम्बल तक सीमित है, स्वयं बिछाता है। यही कारण है जब वह मुख्यमंत्री बना और सामान्य रूप से त्याग का जीवन व्यतीत करने लगा तो केरल के पुराने काँग्रेसी काँप उठे, क्योंकि वह केवल पांच सौ रुपये मासिक वेतन लेने लगा, और अपने निजी और अत्यावश्यक राजकीय व्यय के पश्चात शेष आय पार्टी के हवाले कर देता। तो काँग्रेसी मंत्रियों का काँपना आवश्यक था। इसीलिए तो कांग्रेसियों और पादरियों ने इस त्यागी ब्राह्मण के विरुद्ध आन्दोलन शुरू कर दिया क्योंकि नम्बूदरीपाद तो बलिदान और सादगी के उस स्थान को छूने लगा था, जहाँ तक गाँधी जी पहुंच चुके थे। एक कम्युनिस्ट गाँधीजी के स्थान पर जा पहुँचे और उसके शाही चेले देखते रह जायँ ? यह वे कैसे सहन करते ?"

अतः गाँधी जी के बनावटी चेलों ने साम्प्रादायिकता के कंधों पर बैठ कर बंदूकें चलाईं और अपनी प्लेटें आप धोने वाले इस त्यागी ब्राह्मण को गद्दी से हटा दिया, क्योंकि यदि वह दो साल और अपने कपड़े आप धोता रहता, तो काँग्रेसी लीडरों के खद्दर का वेश इतना मैला और गलीज़ हो जाता, कि पंडित नेहरू से भी न पहचाना जाता !...

मगर नम्बूदरीपाद को फिर भी उनके इस कार्य पर क्रोध न आया। उसे क्रोध तो आता ही नहीं। जब वह बात करता है तो इतनी जँची-तुली, मगर इतनी नम्रता और प्रेम के साथ कि शत्रु को भी उस पर प्यार आ जाता है। क्योंकि उसका काम तो सेवा करना है और सच्चे दिल से सेवा करने वाला कभी आवेश में नहीं आता। संतुलित रहना उसका स्वभाव है और यह विशेषता उसे नम्बूदरी ब्राह्मणों से मिली है। चाहे उच्च जाति के वे ब्राह्मण लाख जागीरदार सही मगर नम्रता उनकी घुट्टी में पड़ी है, और यही नम्रता नम्बूरीपाद को पूर्वजों से मिली है।

बड़ी से बड़ी समस्या सामने आ जाय, नम्बूदरी अपनी नम्रता नहीं खोता, घबराता नहीं, उसे क्रोध नहीं आता। हर एक की बात पूर्ण संतोष से सुनता है, उसी संतोष के साथ अपनी बात सुनाता है, किसी का मतभेद हो तो उसे बड़ी गंभीरता से सहन करता है। यही कारण है कि कम्युनिस्ट पार्टी में चाहे कितने ही आपसी मतभेद हों लेकिन नम्बूदरीपाद को सभी एक मत से अपना लीडर मानते हैं। अपने कामरेडों में उससे ज्यादा प्रिय कोई भी नहीं हैं। वह साधारण से साधारण कॉमरेड के साथ जब बात करता है तो उससे पूछता है—"कॉमरेड, तुम्हारे घर का क्या हाल है, तुम्हारे बच्चे, तुम्हारी पत्नी का क्या हाल है? सब का हाल बताओ मुझे।"

वह इन कॉमरेडों की छोटी सी छोटी तकलीफों को भी खुद भाग-दौड़ कर दूर कर देता है। वह आज्ञा करना नहीं जानता, कार्य करना जानता है! वास्तव में वह परिश्रम और सादगी का एक प्रतीक बन चुका है। उसके कॉमरेड नम्बूदरीपाद को देखकर अपने जीवन को भी साफ और सादा बनाने के लिये बैचेन हो जाते हैं। यहाँ तक कि केरल के विरोधी लीडर भी मानते हैं—"नम्बूदरीपाद के चरित्र तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है, यही एकमात्र कम्युनिस्ट है जिससे हमें कोई शिकायत नहीं। काश! यह कम्युनिस्ट न होता"!—वे दुःख से कहते हैं।

मगर वह हमेशा से तो कम्युनिस्ट न था। वह कांग्रेसी भी रहा है, सोशलिस्ट भी रहा है। उसने गांधी जी के नमक-सत्याग्रह में भी भाग लिया। वह स्वतन्त्रता-ग्रान्दोलन में भी कैद हुआ। उच्च जाति के नम्बूदरी ब्राह्मण खुश थे कि उनका एक बुद्धिमान बेटा केरल कांग्रेस की अच्छी पदवी पर बैठा है। लेकिन यह खुशी मलियामेट हो गई और वह काँग्रेस के लेफ्ट-विंग, सोशलिस्ट ग्रुप के पद पर जा बैठा। नम्बूदरी-पाद ने जयप्रकाश नारायण के सोशलिस्ट विंग के साथ बरसों मिलकर काम किया। ट्रावनकोर कोचीन की सोशलिस्ट पार्टी का सेक्रेटरी रहा। लेकिन एक दिन जयप्रकाश नारायण, नम्बूदरी ब्राह्मणों और काँग्रेसी साम्प्रदायिकों सबने मुंह में उँगली दबा कर देखा कि कल शाम तक जिस बिल्डिंग पर सोशलिस्ट पार्टी का बोर्ड लगा हुआ था, वहाँ आज कम्युनिस्ट पार्टी का बोर्ड लटक रहा है, मगर अंदर वही नम्बूदरीपाद बैठा काम कर रहा है।

"अरे यह क्या ? क्या तुम कम्युनिस्ट बन गये शंकरन् ?" किसी ने पूछा।

"हाँ ! सिर्फ मैं ही नही, बल्कि हमारे प्रांत की पूरी सोशलिस्ट पार्टी कम्युनिस्ट बन गई !"

"मगर यह तब्दीली कैसे आई।"

"तब्दीली कैसी ? तब्दीली की क्या आवश्यकता थी ? हमें तो केवल बोर्ड ही तब्दील करना पड़ा ! और बस ! कम्युनिस्ट तो हम सब पहले ही बन चुके थे !"

"शायद बिल्कुल इसी नाटकीय ढँग पर एक दिन केरल मिनिस्ट्री का भी उसने बोर्ड तब्दील कर दिया, और उस पर कम्युनिस्ट पार्टी का बोर्ड लगा दिया।

वह इक्कीस वर्ष से कम्युनिस्ट पार्टी में है और पार्टी का एक माना हुआ इन्ट्लैक्चुअल गिना जाता है और इन्टेलक्चुअल होने के बावजूद जन-नेता माना जाता है। यद्यपि न वह कृषक-नेता है, न मजदूर नेता,

न स्टूडेंट्स-नेता। मगर इसके बावजूद उसे सब अपना नेता मानते हैं, क्योंकि वह एक विद्वान है। वह कम्युनिस्ट पार्टी का एक ऐसा विद्वान है जो पूँजीपति वर्ग के सहायक विद्वानों से टक्कर लेता है। पढ़ने का तो उसे जनून है। किताबों का वह कीड़ा है। हर रोज प्रातः साढ़े चार बजे जाग पड़ता है। उठते ही आध घंटे तक नियम पूर्वक योगाभ्यास करता है, और चाहे कुछ हो जाय इसमें नागा नहीं करता। उसके पश्चात साधारण सा कलेवा करके पढ़ने-लिखने बैठ जाता है। उसकी दृष्टि और दिमाग़, दोनों की गति इतनी तेज़ है कि उसने एक बार तो सबको चकित कर डाला,—अर्थात् गांधी जी की फिलासफी पर मिस्टर तंडोलकर ने जो हजारों पृष्ठों की किताब, बारह बड़ी-बड़ी जिल्दों में लिखी थी, उसे तीन महीनों में न केवल पढ़ डाला, बल्कि उसका मार्कसिस्ट दृष्टिकोण से लेखों का एक जवाबी जोरदार क्रमाँक भी लिख डाला। इस क्रमाँक लेखों ने गाँधीवादियों में अत्यंत बैचेनी और हलचल पैदा कर दी और गाँधीवाद और साम्यवाद के मध्य एक ऐसी स्पष्ट और अमिट लकीर खींच दी कि कम्युनिस्ट वर्करों को गाँधीवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए एक अचूक हथियार मिल गया।

नम्बूदरीपाद कवि नहीं है, मगर उसके लेख साहित्य व कला पर अथॉरिटी माने जाते हैं। विशेषकर मलियाली साहित्य पर उसकी राय को बड़े-बड़े पूंजीवादी साहित्यकार भी मानते है। उसने इतिहास, साहित्य और राजनीति पर कई पुस्तकें लिखीं। हिन्दुस्तान का कौन सा काँग्रेसी मुख्य-मंत्री है जिसने आज तक कोई काम की किताब लिखी हो?

क्योंकि वह एक आदर्शवादी मनुष्य है, इसलिये ज्यूंही वह केरल का मुख्य-मंत्री बना, उसने अपनी ताकत जन-साधारण के जीवन को आदर्श रूप बनाने पर व्यय करना आरम्भ कर दी। आप उससे मिलें तो वह आपको उँगली पर गिनकर बता देगा कि भिन्न-भिन्न विभागों की उन्नति की अङ्क-गणना क्या थी और उनमें कितना परिवर्तन किया

गया। उसकी स्मरण-शक्ति बला की है। उसे इतना तक याद है कि स्कूल के चपरासी को कौन से सन में कितने रुपये कितने आने वेतन मिलता था और उस समय अनाज और कपड़े के क्या भाव थे। केरल को आदर्श प्रांत बनाने के लिए उसने कुछ क्रांतिकारी बिल तो पास करवाए ही, लेकिन उसने जो दो सबसे बड़े और आदर्श कारनामे किए उनमें एक तो यह था कि पुलिस की गाली-गलौज़ सख्ती से बन्द कर दी, क्योंकि पुलिस वाले जनता को गंदी गालियाँ देकर उनका अत्याधिक अपमान किया करते थे। मानो उसने अपने प्रदेश में एक आदर्श पुलिस को जन्म दिया जो सच्चे अर्थों में जनता की सेवक थी और यही बात अन्य काँग्रेसी राज्य को काँटे की तरह चुभने लगी, क्यों कि उनके शासन तो पुलिस की गाली-गलौज़ और झूठ-फरेब पर ही खड़े थे। और दूसरी बात जो इन राज्यों को बुरी लगी वह यह थी; कि बेदखली की पूर्ण मनाही। किसी भी आदमी को ज़मीन और मकान से बेदखल नहीं किया जा सकता! इसलिए पूंजीपतियों और धर्म के ठेकेदारों को यह खतरा पैदा हो गया कि यदि केरल के इन उदाहरणों को दूसरे प्रदेशों की जनता ने भी पसंद करना शुरू कर दिया, और इसे क्रियात्मक रूप देने की माँग की जाने लगी, तो उनके तख्त उलट जाएँगे।—अतः उन्होंने अपनी भलाई इसमें समझी कि एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक षड़-यंत्र रचकर नम्बूदरी सरकार का तख्ता उलट दिया—(ताकि पूंजीपति और जागीरदार निडर होकर बेदख़लियाँ करा सकें)

बस यह है कि कुल्हाड़ा-धारी परसराम की पीढ़ी के नम्बूदरी ब्राह्मण के हाथ में भी कुल्हाड़े-दराँती का निशान है; जिसका पूंजीपति क्षत्रियों के विरूद्ध प्रयोग करके वह सच्चाई, नेकी, और ईमान का राज्य स्थापित करना चाहता है। उसकी आवाज में एक दृढ़ता और गंभीरता है। जब वह बोलता है तो थुथलाकर बोलता है, लेकिन यह थुथलापन उसके विचारों की गति में रुकावट नहीं बनता। यह थुथलापन उसमें आत्महीनता की बजाय विचारों में दृढ़ता पैदा करता है। बल्कि इससे

उसमें हास्य-रस भी पैदा हो गया है। एक बार एक विदेशी जनरलिस्ट ने उसमें शायद ग्रात्महीनता पैदा करने के लिए एक प्रश्न किया, "कॉमरेड नम्बूदरी ! क्या ग्राप हर समय थुथलाते हैं ?"

हास्य-रसिक कॉमरेड नम्बूदरी में बजाय इसके ग्रात्महीनता पैदा होती उसकी रग फड़क उठी ग्रौर उसने मुस्करा कर कहा—

"नहीं जनाब केवल उस समय जब मैं बोलता हूँ...।"

जयप्रकाश नारायण

"—उस के बाद जे. पी. के लिए केवल एक रास्ता रह गया था कि वह हिंदुस्तान का पोलिटिकल संत बन जाय, मगर उस रास्ते को आचार्य बिनोवा भावे ने ब्लॉक कर रखा है..."

जयप्रकाश नारायण

मैंने सबसे पहले जयप्रकाश नारायण को लाहौर में देखा था। वह एक बहुत बड़े पब्लिक जलसे में भाषण दे रहे थे। अपनी सिद्ध-प्रसिद्ध आदत के अनुसार वह आधा घन्टा लेट पहुँचे। उनकी इस आदत का ज्ञान मुझे बहुत बाद में हुआ। उन दिनों मैं यह नहीं समझता था कि अगर लीडर लोग पब्लिक से इंतजार न करवाएँ तो पब्लिक उनको बहुत बड़ा लीडर नहीं मानती। इसलिए उस पब्लिक जलसे में मैंने महसूस किया कि मेरे सिवाय तमाम श्रोतागण जयप्रकाश नारायण के इंतजार का आनंद लूट रहे थे। हर पाँच मिनट के बाद जलसेघर के किसी हिस्से में से एकदम आठ-दस आदमी उठ खड़े होते और गर्दन उचका-उचकाकर सड़क की ओर से आती हुई किसी कार को देखते और चिल्ला उठते—"वो आ गये, वह आ गये।"

मगर आमतौर पर उस कार में से कोई पुलिस सुपरिटेन्डेन्ट निकलता या कोई देशभक्त सेठ। लेकिन जब जे० पी० आया तो किसी को पता भी नहीं चला और अचानक स्टेज पर स्वागत-तालियाँ गूँजने लगी और फिर दरमियाने कद का सफेद बुर्राक खद्दर का पहनावा पहने नम्रता-पूर्वक हाथ जोड़े एक सीधा-साधा सा युवक कह रहा था—

"और फिर हम यूं करेंगे कि अंग्रेज को पकड़ लेंगे, उसे समुद्र के किनारे ले जाएँगे, और उससे कहेंगे—"जाओ, अपने घर वापिस चले जाओ।" और अगर वह नहीं जायेगा तो फिर हम यह करेंगे कि उसे उठाएँगे, कंधे तक ले जाएँगे और समुद्र में फैंक देंगे।"

न उसने मुट्ठियाँ भींची, न मेज पर मुक्के मारे, न आवाज से आकाश में छेद किया, और जलसे के पचास हजार श्रोता मुँह में उँगली दाब कर बैठ गए कि यह कैसा लीडर है ? हमने तो सुना था कि, वह बहुत जोशीला इन्कलाबी है ! कांग्रेस के गर्मदल का प्रतिनिधि है। मगर यह तो बिल्कुल ठन्डा निकला। बिल्कुल शरीफ ! न उसने अँगारे बरसाए, न पिस्तौल चलाया, न हिंसा का प्रचार किया, बल्कि चंद सीधे-सीधे शब्दों में अंग्रेज़ को उठा कर समुद्र में फेंक दिया !

मैं उसी वक्त समझ गया था कि आदमी बहुत अच्छा है मगर स्वप्नों का शिकार है। अगर यह कवि हो जाता तो छोटी पंक्तियों की निहायत हल्की-फुल्की सुंदर और नाजुक गज़लें बड़ी अच्छी लिख लेता।

लेकिन अफसोस कि वह तो लीडर था और कुछ वर्ष बाद तो मुझे यह भी ज्ञात हो गया कि वह मार्कसिस्ट भी है, यद्यपि कम्युनिस्टों का सबसे बड़ा आरोप जे० पी० पर यही है कि वह और सब कुछ है मगर मार्कसिस्ट नहीं है (और अगर मार्कसिस्ट नहीं है तो इन्कलाबी कैसे है ?)

लेकिन इन्कलाब का अर्थ अगर तब्दीली है तो जयप्रकाश नारायण एक सही इन्कलाबी है। क्योंकि वह बार-बार बदलता रहा है। पहले वह एक सीधा-साधा देशभक्त विद्यार्थी था। हर विद्यार्थी की तरह वह विद्यार्थी से मार्कसिस्ट बन गया, मार्कसिस्ट से काँग्रेसी साँचे में बदला, काँग्रेसी से सोशलिस्ट बना ! बाद में उसे ख़याल आया कि केवल सोशलिस्ट शब्द से जनता प्रभावित नहीं होती तो सोशलिस्ट के साथ 'प्रजा' का शब्द चिपका दिया। जब 'प्रजा' फिर भी अपने राजा की शरण में न आई तो जे० पी० सर्वोदय लीडर बन गया। मगर सर्वोदय आंदोलन की बागडोर क्योंकि आचार्य बिनोबा भावे के हाथ में ही रही, जे० पी० के हाथ में न आ सकी, इसलिए हमारा १९४२ का यह इन्कलाबी हीरो फिर बदला और अमरीकी सभ्यता के और अमेरिकी राजनीति के वातावरण में साँस लेने लगा।······परिणाम यह हुआ

कि पाकिस्तान की फौजी डिक्टेटरशिप को 'आत्मा की शांति' समझने लगा !

लाहौर के उस जलसे के बाद मैंने कई बार जे० पी० के दर्शन किए और जब भी मैंने उसके दर्शन किए तो मुझे यूं महसूस हुआ जैसे वह बूढ़ा हो रहा है। उसमें वह अलबेलापन कम हो रहा है, जिसे देख कर दिल बेकाबू होकर उसकी ओर खिच जाता था। यद्यपि अब भी उसके लहज़े में वही सादगी है कि उसके वाक्य और युक्तियाँ मन में तुरंत जादू जगा देती हैं। लेकिन आँखों से दूर होते ही उसका जादू खत्म हो जाता है—शायद इसलिए कि जिन्दगी तेजी से बदल रही है, मगर जे० पी० उस तेजी से नहीं बदल रहा है। (बल्कि बदल ही नहीं रहा।) एक जमाना था कि वह हिन्दुस्तान को तेजी से बदलना चाहता था और अब जब कि हिन्दुस्तान स्वयं तेजी से बदल रहा है तो जे० पी० उसे हाथ से रोक रहा है। वह समझता है कि उसका यह हाथ उस हिन्दुस्तानी साधु का हाथ है जो आँधी के झक्कड़ में खड़ा लोगों को उपदेश दे रहा है "ठहरो, इस झक्कड़ से मत डरो। इसे चलने दो स्वयं झक्कड़ मत बन जाओ। यह झक्कड़ अस्थायी है, मर जाएगा; तुम नहीं मरोगे क्योंकि तुम अमर हो।"

और लोग यह सुनकर आश्चर्य से मुँह खोल देते हैं कि क्या यह वही जयप्रकाश है जो फिरँगी की जेल से भाग निकला था और जिसने १९४२ में हिन्दुस्तानी जनता को ललकारा था " फिरँगी की रेलों को तोड़ दो, टेलीफोन की तारों को काट दो, थानों को आग लगा दो और फिरँगी के लिए एक-एक पल जीना दूभर कर दो।"

"जी हाँ ! यह वही जयप्रकाश नारायण है—बिहार का अल-बेला इन्कलाबी। मजदूरों और किसानों की घिनौनी और दर्दनाक गरीबी को देखकर जिसकी आँखों में लहू उतर आता था, वह ही जे० पी० आज राजगोपालाचार्य से मिलकर हिन्दुस्तानी पूंजीपतियों के लिए 'फ्री ऐन्टरप्राइज़' का अधिकार माँगता है। बिहार का किसान

यद्यपि आज भी काल, बीमारी और पिछड़ेपन का शिकार है, लेकिन जयप्रकाश नारायण का दिल नहीं पसीजता, और अगर पसीजता है तो तिब्बत के दलाई लामा के लिए जो तिब्बती किसानों के लिए नहीं है, बल्कि तिब्बती जागीरदारों और मठों का प्रतिनिधि है। अगर बिहार के एक किसान के बच्चे को दूध की एक बूंद न मिले तो जे० पी० की आँख से एक बूंद आँसू भी नहीं टपकता, लेकिन अगर दलाई लामा को नाश्ते पर मछली न मिले तो जे० पी० काँप उठता है और सोचता है—"ये मानवता नहीं है। यह एक मनुष्य पर दूसरे मनुष्य का वह अत्याचार है, जिसके लिए यू० एन० ओ० में आवाज उठानी चाहिए!"

एक बार दिल्ली में फिर मुझे जे० पी० के दर्शनों का अवसर मिला। वह लेखकों की एक मीटिंग को एड्रेस कर रहा था। उसने कलाकारों से कहा—"तुम लोग लेखक हो, लेखक का धर्म है कि मनुष्य-मात्र की सेवा करे। इन्सान जो नये युग की मशीन का पुर्जा बन गया है, उसे आत्मिक शान्ति का दान दो। लेखक रोटी से बड़ी चीज है, उसका कर्तव्य है कि अपने कलम से इन्सानों के मन परिवर्तित करदे। नारे लगाने से बेचैनी बढ़ती है, शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसलिए मैं कहता हूँ कि साहित्य को कम्यूनिजम से बचाओ; क्योंकि कम्यूनिज़म मनुष्य की आत्मा की स्वतन्त्रता को मार देता है। हमारे साहित्यकार का यह नारा होना चाहिए कि साहित्य हर "इज्म" से ऊँचा है, बड़ा है।"

मुझे याद है कि इस सभा में जो लेखक मौजूद थे, उनमें से कई लेखक तो जे० पी० से इतने प्रभावित हुए कि एक 'इज्म' से ऊंचे उठ कर दूसरे 'इज्म' की गोद में जा गिरे और खुले रूप से इम्पीरियलिज्म से डालर माँगकर अपनी आत्मा की स्वतंत्रता बेचने लगे। एक लेखक ने कट्टरपंथी मुल्लाओं को मिलाकर मजहब का प्रचार शुरू कर दिया और एक दूसरे लेखक ने आत्मा की शांति के लिए कुछ ऐसी ऊल-जलूल

कहानियाँ लिखनी शुरू करदीं, जो न उसकी अपनी समझ में आती थीं न किसी दूसरे की ।

और यूं डालर से रोटी खाते-खाते वह रोटी से ऊँची कला पेश करने लगे, और अपने विचारात्मक नेता श्री जयप्रकाश की तरह अपने ही पैदा किए हुए अंधेरे में गुम हो गए ।

एक दफा की बात है यू० पी० के प्रसिद्ध कॉमरेड़ और सोशलिस्ट नेता यूसफ मेहरअली ने जे० पी० के बारे में लिखा था—

"वह देश का एक सर्वप्रिय और आदरणीय व्यक्तित्व है, मगर बहुत थोड़े लोग जानते है कि इस जादूगर के पीछे कितने तर्जबे, दुःख और संघर्ष काम कर रहे हैं ।"

आज अगर स्वर्गीय मेहरअली जीवित होते तो वह यह देखकर कभी न मानते कि उनके इस प्रिय जादूगर के तमाम तर्जुबे, दुःख और संघर्ष एक ऐसे मार्ग पर चल पड़े है जो अमल के नहीं; स्वप्नों की वादी की ओर जाता है । वह एक बार फिर हिन्दुस्तान के गाँवों के दिए को जलाना चाहता है; जबकि बिजली के बल्ब पहुँच चुके है !

फिर भी जे० पी० की इज्जत आज भी हर उस दिल में है, जिसने उसे बड़े-बड़े ऐडवेन्चर करते देखा और सुना, जिसने उसे गाँव-गाँव पैदल चलकर किसानों के दुःख पर मुट्ठियाँ भींचते देखा है और जिनकी निगाह जवाहरलाल के बाद जे० पी० पर उठती है । मगर खेद यह है कि यह नजर निराश होकर लौट आती है जबकि वह देखती है कि वह पोलिटिकल नेता की बजाय एक फिलासफर, एक संत और एक महात्मा बनता जा रहा है—एक उपदेशक साधु और एक पोलिटिकल नेता में जो मूल अंतर होता है वही अन्तर जे० पी० में तेजी से जन्म ले चुका है और हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय पताका जे० पी० की बजाय किसी और इन्कलाबी की तरफ आँख उठाकर देख रही है ।

जयप्रकाश हमारे देश की उस युवक नेता पीढ़ी से सम्बन्ध रखता है, जो पहली बड़ी जँग के बाद उभरी और इसी पीढ़ी ने ही अंग्रेज से

आजादी छीनी। इस पीढ़ी के कुछ लोग कांग्रेसी शासक बन गए, कुछ लोग कम्युनिस्ट कहलाए और कुछ सोशलिस्ट।......इस पीढ़ी में, जिस ग्रुप के साथ ट्रेजिडी हुई, वह सोशलिस्ट ग्रुप है क्योंकि वह बेचारा काँग्रेस और कम्युनिस्ट ग्रुपों के बीच में लटक गया।

जयप्रकाश नारायण इस ट्रेजिडी का हीरो है। यह तीनों ग्रुप चूंकि अंग्रेजों के किरुद्ध साथ-साथ लड़ते रहे थे, इसलिए व्यक्तिगत रूप में एक दूसरे को जानते, चाहते और हँसते-खेलते है। यही वजह है कि जब जवाहर लाल जयप्रकाश को जेल भेजने का हुक्म देता है तो जेल में उसके स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ करने भी पहुँच जाता है और अपने पुराने सोशलिस्ट मित्र के लिए आमों की टोकरी भी साथ ले आता है; बिल्कुल ऐसे ही, जैसे पंडित नेहरू का स्वास्थ्य थोड़ा सा बिगड़े तो कम्युनिस्ट लीडर कॉमरेड अजय घोष परेशान होकर उसे तार भेजता है कि आप अपने स्वास्थ्य का ख़याल रखिए बल्कि बेहतर यह है कि रूस जाकर इलाज कराइए। वहाँ की मैडीकल साइंस बहुत एड-वान्सड है।

चुनाँचे इन तीनों ग्रुपों की लीडर पीढ़ी भारत पर शासन करना अपना हक समझती है, लेकिन क्या ट्रैजिक ग्रुप के जयप्रकाश नारायण को शासन का चांस मिल जाएगा?

मेरा ख़याल है नहीं··· वजह ज्यादा साफ है कि पहले और तीसरे ग्रुप के पास बड़ी मजबूत और जत्था-बंद पोलिटकल पार्टियाँ हैं, जब कि जे० पी० के पास पार्टियों के बजाय केवल थीसिस ही थीसिस है। जो सोशलिस्ट पार्टी उसने बनाई थी, वह डाँवाडोल साबित हुई और जयप्रकाश को छोड़ गई या जयप्रकाश उसे छोड़ गया। इसलिए पार्टी के बिना शासक बनने का चांस निनयानन्वे प्रतिशत खत्म हो चुका है। और जे० पी० के पास कोई पार्टी नहीं इसलिए वह पार्टी सिस्टम गवर्नमैन्ट का विरोधी हो गया है। पार्टी सिस्टम एक ऐसा अंगूर है जो जे० पी० के लिये बहुत खट्टा हो चुका है।

मेरे एक जर्नलिस्ट दोस्त ने एक बार बड़े पते की बात कही थी कि जयप्रकाश नारायण के हाथ में कोई पार्टी दे दे तो वह उसे तितर-बितर करके रख देगा, क्योंकि वह कभी अच्छा संगठनकर्ता नहीं बन सकता।

मुझे तो यूं लगता है कि जयप्रकाश नारायण एक आजाद-मन व्यक्ति है। वह शायद इतना ऊँचा इन्सान है कि पार्टी की निचली सतह पर उतर ही नहीं सकता! वह हर पार्टी और हर ग्रुप से आज़ाद और ऊँचा रहना चाहता है क्योंकि वह मूलतः केवल एक बाग़ी है, इन्कलाबी नहीं। वह तितर-बितर करना ही जानता है जोड़ना नहीं जानता। (१९४२ का आंदोलन इसका सबूत है)। इसलिए वह संसार की सबसे मजबूत और संगठित कम्यूनिस्ट पार्टी का सख्त विरोधी है और वह उस पर यह आरोप लगाता है कि वह एक व्यक्ति की आजादी को कुचल देती है, यानी जे० पी० वास्तव में एक व्यक्ति है, समाज नहीं है। इस आधार पर वह केवल एक इकाई है दहाई नहीं। यही वजह है कि वह सब के साथ भी है, सबसे अलग भी। वह काँग्रेस, स्वतंत्र, कम्यु-निस्ट—यहाँ तक कि जनसंघ का भी कभी साथ देता है, मगर अपना दिल इनमें से किसी को भी नहीं देता, क्यों वह समझता है कि मैं इन्हें अपना दिल कैसे दे दूं! यह दिल तो मेरा है, खालिस मेरा अपना दिल! ऊँचा और बहुत बड़ा दिल और यह छोटे शरीरों में समा ही नहीं सकता!

वह केवल अपने दिल की स्वतंत्रता चाहता है, लेकिन जब समाज के करोड़ों दिलों की एक साथ स्वतंत्रता का प्रश्न उठता है तो वह घबरा जाता है, उलझ जाता है और घबरा कर कोई नई थीसिस पेश कर देता है (ऐसी थीसिस जिसे या तो कोई अलादीन का देव पूरा कर सकता है और या कोई डिक्टेटर।)

मगर जयप्रकाश तो कोई डिक्टेटर नहीं है, वह अलादीन भी नहीं, वह तो एक कवि है जो छोटी-छोटी पंक्तियों की एक अति-सुंदर गज़ल लिख सकता है। गज़ल जिसकी हर पंक्ति अलग-अलग होती है, हर पंक्ति

आज़ाद होती है, हर पंक्ति के अलग-अलग अर्थ होते हैं। जब वह पंचायती राज की बात करता है तो मुझे यूँ लगता है उसके स्वप्न की, गाँवों की छोटी सी पंचायत, पंचायत नहीं है, बल्कि एक गज़ल की पंक्ति है जो अभी शब्दों में नहीं ढली।

मैंने जे० पी० को गज़ल कहने वाला कवि इसलिए कहा है, क्योंकि वह नज्म का कवि बिल्कुल नहीं। नज्म में एक बाकायदा संगठन होता है। उसकी हर पंक्ति एक-दूसरे से अलग-अलग होने के बावजूद एक-दूसरे से जुड़ती चली जाती है, और नज्म के केंद्रिय ख़याल को पग-पग आगे बढ़ाए चली जाती है, मगर जे० पी० का मस्तिष्क हमेशा संगठन से बग़ावत करता है। ज्यादा से ज्यादा वह एक ईमानदार विध्वन्सकारी है, जो अपनी उँगली से लहू निकालकर कागज पर यह तो लिख सकता है कि मैं क्रांति की सौगंध खाता हूँ; कि इसके लिए अपने लहू की अंतिम बूंद तक न्यौछावर कर दूँगा—लेकिन वह यह नहीं जानता कि जब क्रांति आती है तो उसे संभाला कैसे जाता है।

यह बात बड़ी रोचक है कि जयप्रकाश नारायण ने उच्चतम शिक्षा अमेरिका से प्राप्त की जबकि बाएँ बाजू के बहुत से लीडर इंगलैंड की यूनिवर्सिटयों के पाले-पोसे हुए हैं। शायद यह अमेरिकी वातावरण का प्रभाव है कि जे० पी० का आदेश उलझा हुआ है, क्योंकि अमेरिका का अपना प्रजातांत्रिक आदर्श भी बुरी तरह उलझा हुआ है; जबकि बर्तानियाँ के प्रजातंत्र की जड़ें बहुत गहरी हैं और उनमें उलझावा बहुत कम है। अमेरिकी दिमाग आज तक यह निर्णय नहीं कर सका कि वह आधुनिक है या कट्टरपंथी, वह पुराना है या नया, वह सभ्य है या वहशी, वह राजनीतिज्ञ है या व्यापारी, वह डिक्टेटर है या डैमोक्रेट, वह साम्यवाद से डरता है या नहीं। चुनाँचे हमारा हीरो जयप्रकाश नारायण भी अमेरिकी दिमाग का हिन्दुस्तानी रूप है। मगर उसके साथ ट्रेजिडी यह है कि वह अमेरिका की तरह धनाढ्य मुल्क का वासी नहीं है, बल्कि हिन्दुस्तान जैसे गरीब देश का वासी है जिसके पास मशीन की नहीं

आत्मा की ताकत है। अमेरिका का वासी तो अपने पैसे और मशीन के बलबूते पर अपने दिमागी उलझावे को छुपा भी लेता है, इस उलझाव के बावजूद अपना स्थान कायम रख सकता है, लेकिन गरीब हिन्दुस्तान का जयप्रकाश नारायण भूतकाल की स्वप्नमयी छाँव के सिवाय और कहीं अपने उलझाव को नहीं छुपा सकता। बढ़ते हुए आधुनिक हिन्दुस्तान में अमेरिकी स्टाइल के उलझाव से कोई अपना स्थान कायम नहीं कर सकता, क्योंकि यहाँ का झोंपड़ा अपने सरसों के तेल का दिया फेंक कर बिजली का बल्ब चाहता है, इसलिए जब जयप्रकाश नारायण उन्हें यह कहता है—"ऐ लोगों, पुराने गाँवों की ओर लौट चलो", तो गाँव वाले केवल मुस्कराकर चुप हो जाता हैं।

पिछले दिनों यारों की एक सभा में बड़ी रोचक बात हुई। एक यार ने कहा कि, जयप्रकाश नारायण की राजनीतिक बादशाही के रास्ते में पंडित नेहरू सबसे बड़ी रुकावट बन गया, इसलिये जे० पी० के लिए केवल एक रास्ता बाकी रह गया था कि वह हिन्दुस्तान का पोलिटिकल संत बन जाए, मगर उस रास्ते को आचार्य विनोबा भावे ने ब्लाक कर रक्खा है!...

राजा जी

"—लेकिन राजा जी के गाण्डीव के तीरों का एक और स्वभाव भी है—वह कि अगर वह चूक जाएँ तो चलाने वाले की ओर लौट आते हैं और खुद राजा जी को निशान बना लेते हैं…।"

राजा जी

कीचड......!

तारकोल......!!

नारे.........!!!

और—

"राजा जी—गो बैक !"

"राजगोपालाचार्य—मुरदाबाद !"

"इंकलाब जिंदाबाद !"

यह घटना भारत के एक बहुत बड़े शहर में हुई। जनता बहुत गुस्से में थी। वह उस काले चश्मे वाले विद्वान ब्राह्मण का चेहरा तक नहीं देखना चाहती थी, इसलिए लोगों ने उस के चेहरे पर कीचड़ फेंकी। तारकोल उछाली—ताकि यह चेहरा उनकी नज़रों से ओझल हो जाय। कीचड़ और तारकोल के गाढ़े परदे में छिप जाय। ताकि वह चेहरा भी काला हो जाय। रँग से रँग मैच कर जाय !

किसी ने पूछा "राजा जी ! आप जानते हैं यह कीचड़ और तारकोल क्यों फेंका जा रहा है ?"

"नहीं।"

"इसलिए क्योंकि आपने पाकिस्तान बनाने के हक में जो भाषण दिए हैं, लोग उनसे सख्त नाराज हैं।"

इसका मतलब यह है कि मैं सच्चाई पर हूं। लोग गुस्से में ऐसा कर रहे हैं; और गुस्से में आदमी का फैसला कभी सही नहीं होता।

श्रौर चूँकि मैं गुस्से में नहीं हूँ, इसलिए मेरा फैसला बिल्कुल सही है।

यह था वह चुटीला वाक्य जो दक्षिण भारत के उस पोलिटिकल ब्राह्मण के मुँह से निकला, जो भारत के अत्यंत बुद्धिमान व्यक्तियों में से एक है। इस वाक्य से जो बुद्धिमत्ता टपकी पड़ती है, यद्यपि वह एक बेराह श्रौर खुदगरज बुद्धिमता है, लेकिन है अभिमानपूर्ण।

राजा जी का व्यक्तित्व ऐसे ही वाक्यों से भरा हुआ बेग है। वह अपने गाण्डीव धनुष से जो तीर चलाता है, वह कभी नहीं चूकता।······(चुनांचे पाकिस्तान वास्तव में बन कर ही रहा।)

लेकिन राजाजी के गाण्डीव के तीरों का एक श्रौर स्वभाव भी है। वह यह कि अगर वह चूक जाएँ तो चलाने वाले की श्रोर लौट आते हैं श्रौर खुद राजा जी को निशाना बना लेते हैं। क्योंकि राजा जी के तीरों ने चूकना सीखा ही नहीं—दुश्मन पर न सही धनुषधारी पर ही सही। उदाहरण के तौर पर राजा जी ने लोगों पर तीर छोड़ा—"क्रोधित आदमी का फैसला कभी सही नहीं होता।" श्रौर यही तीर वापिस आ कर राजा जी को लग गया श्रौर बोला "हाँ, क्रोधित आदमी का फैसला कभी सही नहीं होता। आपने ठीक फरमाया। आपने भी गुस्से में आकर स्वतंत्र पार्टी बना डाली, इसलिए आपका यह फैसला भी कभी सही नहीं हो सकता।"

चुनाँचे राजा जी का सारा जीवन इसी गुस्से श्रौर प्रतिशोध का जीवन है। वह दुश्मनों के विरुद्ध ऐसे तेज-तरार फारमूले घड़ता है जिस का वह खुद भी शिकार हो जाता है। वह शिकारी भी है, श्रौर शिकार भी, वह डाक्टर भी है श्रौर बीमार भी। उसने पेन्सिलीन के विरुद्ध आंदोलन शुरू किया। उस पैन्सलीन के विरुद्ध जो तपेदिक के कीड़ों से बनती है, श्रौर तपेदिक के कीड़े तपेदिक के कीड़ों को ही मारते हैं। यानि तपेदिक के कीड़े डाक्टर भी हैं श्रौर बीमार भी। शायद राजा जी भी एक ऐसा शक्तिशाली कीड़ा है जो अपना दुश्मन आप है। शायद इसलिए उसने पेन्सलीन के विरूद्ध आन्दोलन शुरू किया।

क्योंकि वह खुद भी एक पेन्सलीन है। उसे अपने विरुद्ध आंदोलन शुरू करने में आनंद मिलता है। यद्यपि लुत्फ की बात यह है कि उसे यह पता ही नहीं कि वह अपने ऊपर हमला कर रहा है !

राजनैतिक जीवन में उसकी असफलता का कारण वही कीड़ा है जो उसकी हर सफलता को असफलता में बदल रहा है मगर उसकी असफलता पर किसी को रोना-पीटना नहीं चाहिए, क्योंकि यही असफलता तो राजा जी का सौंदर्य है। अगर यह न रहे तो राजा जी भी न रहे बल्कि भारत का प्रधान बनकर सफलता की चकाचौंध में गुम हो जाय, और किसी को नजर भी न आय—या शायद इस हद तक नंगा नजर आय कि जनता उस से घृणा करने लगे।

एम० एन० राय और जयप्रकाश नारायण के बाद यह तीसरा भारतीय इन्टलैक्चुअल है जो पोलिटिकल जीवन में नाकाम रहा है। यह तीनों ऐसी बूंदें थे जो सागर से अलग होकर अपने आप को सागर कहते रहे, मगर सागर उन पर बराबर हँसता रहा। (और सागर की यह हँसी वह कभी न सुन सके।)

मगर यह बूँद जिसे चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य का नाम दिया जाता है, एक बार उतनी तेजी से और इतनी ऊँचाई तक उछली कि १९४८ में चालीस करोड़ भारतीयों का गवर्नर-जनरल बन गई। यह एक सबसे ऊँची पदवी है जो अँग्रेजी साम्राज्य के अंत पर किसी हिन्दुस्तानी को मिली। लोगों ने उसे बधाई देते हुए कहा "राजा जी, हम बतौर गवर्नर-जनरल आपका सम्मान करते हैं", तो राजा जी तुरंत ही उस गद्दी से उतर आए और बोले "गवर्नर-जनरल होने के नाते मेरा सम्मान मत करो क्योंकि राजगोपालाचार्य का सम्मान गवर्नर-जनरल की वजह से नहीं बल्कि गवर्नर जनरल का सम्मान राजगोपालाचार्य की वजह से है।"

लोगों ने कहा "यह बोल अभिमान के हैं।"

राजा जी ने कहा "तो यह लो अपनी गद्दी, मैं चला।"

वह समझा कि इस धमकी पर जनता सहम जाएगी, लेकिन एक बार जब जनता ने उसे वास्तव में गवर्नर-जनरल के पद से उतार दिया तो राजा जी का सारा गौरव मिट्टी में मिल गया। जनता व्यक्तित्व की नहीं आदर्श की परवाह करती है।

असल में उसे अपने ऊपर नाज़ है इसलिए तो वह किसी को खातिर में नहीं लाता। शायद वह समझता है कि मैं हिन्दुस्तान का एकमात्र ब्राह्मण हूँ जो ब्राह्मण के मुख से उत्पन्न हुआ है; बाकी सब ब्राह्मण जनता की कोख से निकले हैं इसलिए मेरे मुँह में से निकला हुआ हर शब्द ब्रह्माजी का हुक्म रखता है। (आह! सिवाय ब्रह्माजी के, उसके इस दावे की कौन पुष्टि कर सकता है।)

चुनाँचे वह किसी के साथ समझौता नहीं करता, हर एक की कड़ी आलोचना करता है। आलोचना करना ही उसकी घुट्टी में है और फिर आलोचना भी ऐसे तीखेपन से करता है कि आलोचना के शिकार के तलवे सुलग उठते हैं—और फिर राजा जी इन तलवों को सुलगता छोड़कर चुपचाप आगे बढ़ जाता है। और जल्दी-जल्दी कह जाता है "मैंने गीता और उपनिषद पढ़े हैं तुमने भी शायद पढ़े हों; मगर पढ़ने के बाद मैंने उनको रगों में रचा लिया है मगर तुमने सिर्फ तोते की तरह रट लिया है; इसलिए तुम्हारे साथ एक आसन पर बैठकर मैं अपनी हेठी नहीं करवाना चाहता। यह लो अपनी गवर्नर-जनरल शिप, यह लो अपनी चीफ मिनिस्टरी—मुझे उनकी कोई परवाह नहीं। मैं इनसे ऊँची चीज हूँ!

मगर यह सही नहीं है। उसे कुर्सी की चाह है। उसे ऊँचे सम्मान पर बैठने की लालसा भी है। इसलिए चाहे वह कुतुबमीनार पर खड़े होकर यह घोषणा करे कि "मैं पोलिटिक्स से रिटायर हो रहा हूँ", मगर यह जानने वाले एक चोर मुस्कराहट के साथ कहते हैं "ऐ ब्राह्मण! अगर तू बुरा न माने तो हम यह कह दें कि तुम पोलिटिक्स में फिर वापिस आओगे क्योंकि तुम त्यागी ब्राह्मण नहीं हो। चाणक्य

ब्राह्मण नहीं हो ! ऐसे ब्राह्मण हो जिस की बुद्धि उसे एक पल भी शांति से नहीं बैठने देती है और उसे बार-बार उकसा कर कहती है "जाओ क्या कर रहे हो यहाँ इस कमरे में बैठे हुए । जाओ, अपनी तीव्र बुद्धि की लीला दिखाओ । हिन्दुस्तान को तुम्हारी नीति की सख्त आवश्यकता है । बुढ़ापे का बहाना बनाकर बैठ मत जाओ । क्योंकि तुम्हारी प्यास अभी नहीं बुझी ।"

चुनाँचे वह दोबारा आ जाता है और लोगों से यह प्रशन्सक नारा सुनकर अपनी प्यास बुझा लेता है । "धन्य हो चक्रवर्ती राज-गोपाल ! अस्सी साल के बुढ़ापे में भी जवानों की तरह दौरे कर रहे हो !" हालाँकि मेरा ख़याल है यह कहकर जनता उसकी प्रशन्सा नहीं करती, बल्कि उस पर तरस खाती है, जैसे कि संतानहीन बूढ़े को देखकर हम तरस खाते हैं ।

राजगोपालाचार्य की ट्रेजिडी यह है वह जनता का लीडर नहीं है बल्कि लीडरों का लीडर है । बस यहीं वह चूक गया है । जनता तो किसी को लीडर मान भी लेती है, मगर लीडरों ने किस को लीडर माना है ? न पं० नेहरू से उसकी बनी, न सरदार पटेल से । यहाँ तक कि वह महात्मा गाँधी तक से भी अड़ जाता था । जिन दिनों गाँधी जी कह रहे थे कि पाकिस्तान हमारी लाशों पर बनेगा, उन्हीं दिनों राजा जी खुले रूप से घोषणा कर रहे थे कि पाकिस्तान चाहे किसी चीज पर बने मगर बनेगा जरूर ····!

जब यह हालत हो (चाहे कितनी भी सही क्यों न हो) तो कौन उसे लीडर मान सकता है ? परिणाम यह हुआ कि न उसे जनता ने लीडर माना न लीडरों ने—और वह दिन बहुत जल्दी करीब आ जाएगा, जबकि स्वतंत्र पार्टी के लीडर, श्री मुंशी और श्री रँगा भी उसे अपना नेता मानने से इन्कार कर देंगे ।

वजह साफ है कि वह केवल एक विद्वान है, ड़िप्लोमेट बिल्कुल नहीं । और डिप्लोमेसी पोलीटिक्स की रीढ़ की हड्डी है । डिप्लोमेसी

का मतलब यह है कि दूसरों पर शासन करने के लिए आप थोड़ा सा अपने रास्ते से सरक भी जाएँ। लेकिन राजा जी सरकना नहीं जानता, सरकाना जानता है। हालाँकि बेचारा आज तक किसी को सरका नहीं सका बल्कि खुद सरक गया। वह एक खरा और निडर इन्सान है। उसकी दलीलें एक खरे और निडर इन्सान की दलीलें होती हैं, एक डिप्लोमेट की सी नहीं। जब वह यह कहता है कि अंग्रेज़ी भाषा भारत की एक अमिट भाषा है, तो कई डिप्लोमेट देश-भक्तों को सहज मानसिक पीड़ा होती है।

"तुम लोगों की सस्ती और ओछी भावनाओं को एक्सप्लाइट कर सकते हो और इस तरह अपने लिए वोट सुरक्षित कर सकते हो, मगर वोट "वास्तविकता" नहीं है। "वास्तविकता" तो अंग्रेजी भाषा में है। इसलिए उसे मान लो और वोट लेने के लिए कोई और सादा तरीका इस्तेमाल करो। टेढ़ी उँगली से जनता के मटके से घी क्यों निकालते हो ?"

और जब उसने यह कहा "व्यापार को स्टेट की मोनोप्ली न बनाओ, बल्कि फ्री एन्टरप्राइज का सिस्टम पैदा करो", तो मेरा ख़याल है कि उसने पूर्ण यथार्थवादी की सी बात कही है। शीश खड़ा कर देने वाले यथार्थवाद में उसको मजा आता है, क्योंकि वह जानता है कि मौजूदा डेमोक्रेटिक ढाँचे पर पूंजीवाद छाया हुआ है। जनता का अधिकार सिर्फ नाम मात्र को है। पूंजीपतियों की सहायता के बिना यह ढाँचा एक इंच आगे नहीं बढ़ सकता तो फिर यह पब्लिक सैक्टर का ढोंग क्यों ? क्यों न साफ-साफ यह ढाँचा प्राइवेट पूँजीपतियों के बाग में स्थापित कर दिया जाय ?...

इसलिए वह निडर होकर काँग्रेस सरकार से कहता है—"तुम जनता के प्रतिनिधि नहीं हो। पूंजीपतियों के प्रतिनिधि हो। इसलिए इस कड़वे-कसीले सत्य को मान लो। जनता के साथ छल-कपट मत करो। वरना मैं जनता से साफ कह दूंगा कि अपनी बागडोर स्वतंत्र

पार्टी के हाथ में दे दो, क्योंकि वह छल कपट नहीं करेगी।" (यानी पूँजीवादी है तो पूँजीवादी ही रहेगी। गाँधी टोपी पहनकर "जनता हितकारी" नहीं कहलाएगी।

मैं नहीं जानता ऐसा कहकर यह पूँजीपतियों पर व्यंग करता है या जनता पर, या दोनों पर। और न मैं यह कह सकता हूं कि वह पूँजीपतियों का हित चाहता है या जनता का। मगर मुझे कई बार शक पड़ता है कि न वह जनता का अनुयायी है, न पूँजीपतियों का, बल्कि वह तो एक यथार्थवादी है। वह केवल एक तमाशाई है और भारत की स्टेज पर होने वाले हर सीन को देखता है, और उस पर कुछ तेज और तीखे, खरे और निधड़क फिकरे कसकर सबको परेशान कर देता है; और इस परेशानी का लुत्फ़ उठाता है और बस!

इस आधार पर वह एक वकील है जो अदालत में खड़ा होकर अपनी तीव्र बुद्धि के मोती बिखेरने का शौकीन है। वह अपराधी के खिलाफ जबरदस्त दलीलें देते हुए अपने मुवक्किल से तारीफ हासिल कर सकता है, तो एकदम मुवक्किल के खिलाफ उतनी ही ज़बरदस्त दलीलें देने लगता है, और मुवक्किल की बधिया बैठा देता है!

और अगर जज हैरान होकर कहे "हे ब्राह्मण! तू क्या कह रहा है।" तो राजाजी का तीसरा शिकार वही जज बन जाता है (यहाँ तक कि वह जज को भी इस बात पर सहमत करा लेता है कि दुनिया में इन्साफ कहीं भी नहीं हैं।)

यही वजह है कि राजगोपालाचार्य को कोई पूरी तरह नहीं समझ सकता—न जनता, न पूँजीपति और न विदेशी। इसलिए वह हर वक्त अपनी आँखों पर काला चश्मा पहने रहता है। इस काले चश्मे के अंदर कौनसी आँखें हैं, उन आँखों में क्या होता है, कौन से उतार-चढ़ाव आते हैं, कहां आते हैं, आते भी हैं या नहीं—इस बारे में कोई नहीं जान सकता। आँखें जो किसी के मन का भेद बता देती है, राजा जी ने छुपा ली हैं। शायद यह भी उसकी शोखी है। शायद यह

भी उसका व्यंग है जो कहता है कि केवल दो शीशों का एक मामूली सा चश्मा तुम्हारी रुकावट वन सकता है, इसलिए तुम क्या हो ? कुछ भी नहीं ! सिर्फ एक चश्मा तुम्हारी सूझ-बूझ का दिवाला निकाल सकता है इसलिए तुम किस बूते पर बड़ी-बड़ी बातें हाँक रहे हो ? मेरे मन में क्या है ? यह जानने के लिये तुम मुझ से कहते हो कि अपना चश्मा उतार दो; तब बताएँगे तुम्हारे मन में क्या है ? मगर मैं तुम्हें कहता हूँ कि मैं चश्मा क्यों उतारूं ? तुम ही क्यों न ऐसी निगाह पैदा करो, जो चश्मे के पार हो जाय ?"

इतने पेचीदा और टेढ़े-मेढ़े ब्राह्मण की अपनी आम जिंदगी बड़ी सादा है । कहते हैं जब वह मद्रास का मुख्यमंत्री था तो अपने कपड़े अपने हाथ से धोया करता था । मैं नहीं कह सकता कि जब वह गवर्नर-जनरल था तो क्या उस वक्त भी अपने कपड़े धोता था या नहीं (जरूर धोता होगा आदत बुरी बला है ।) लेकिन इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह भारत की जगत-प्रसिद्ध सादगी का एक प्रतीक है । सादा खाना और सादा पहनना और इस तरह आत्मिक शक्ति हासिल करना भारतीय फिलासफी की जड़ है और राजा जी ने उसे ईमानदारी से अपना रखा है । वह रख-रखाव के झूठ को अपनी बुद्धिमत्ता की बुनियाद नहीं बनाता । उसे धन का लालच नहीं है । वह एक ऐसा आदर्श ब्राह्मण बनना चाहता है, जो कभी हिदुस्तान का गर्व था । इस तरह वह गाँधी जी की नकल करता है, मगर गाँधी जैसी डिप्लोमेसी उसे नहीं आती । गाँधी जी पूँजीपतियों और जनता को एक ही तीर से शिकार कर सकते थे मगर राजाजी पर दोनों भरोसा नहीं करते, क्योंकि वह केवल नकलबाज़ है । वह बुनियादी तौर पर रूढ़िवादी है । मॉडर्न जिंदगी का रसिया नहीं है बल्कि उसका सख्त दुश्मन है । इसलिए वह कम्युनिस्टों को अपना दुश्मन नम्बर एक समझता है, क्योंकि वह भारत को मॉडर्न और साइन्टिफिक बनाना चाहते हैं और शायद इसी आधार पर हिन्दुस्तानी पूँजीपति कभी-कभी राजा जी

को अपना आखिरी सहारा समझते हैं ।

लेकिन मैं कहता हूँ वह पूँजीपति लीडर नहीं बन सकता।
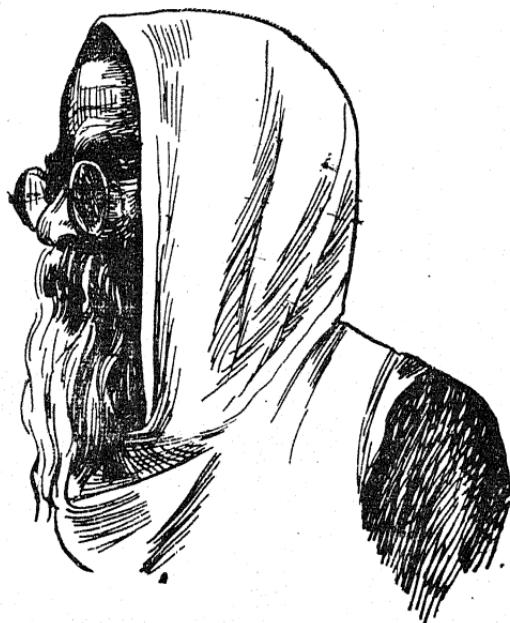
वह दबी हुई कुचली हुई जनता का लीडर भी नहीं बन सकता।

वह हिन्दुस्तान का पोलिटिकल लीडर कभी बन ही नहीं सकता।

क्योंकि····· वह सिर्फ एक विद्वान है लीडर नहीं, वह लेखक है, व्यापारी नहीं ।

विनोबा भावे

"—जब मैं भूमि पर चलता हूं तो मुझे यह कभी पराई नहीं लगती। मुझे यह कभी नहीं लगा कि यह धरती किसी भूमिपति की पूंजी है या किसी मुजारे की, या किसान की। भूमि तो सबकी है...।"

विनोबा भावे

मैं पहले एक विनायक था ।

फिर बापू ने मुझे कहा, "तुम विनायक नहीं हों विनोबा हो"

फिर लोगों ने कहा, " तुम ऋषि हो ।"

फिर किसी ने लुकमा दिया "तुम राजऋषि हो, जैसे राम-राज्य में विश्वामित्र थे ।"

मैंने सोचा राजऋषि तो टंडन जी हैं, वह अपनी चीज किसी को क्यों देने लगे ? और फिर मैं तो त्यागी हूं, राजपाट से मेरा क्या काम ? मुझे राजनीति कहाँ आती है ? राजऋषि तो विश्वामित्र थे या चाणक्य थे या बापू थे । बापू जीवत होते तो निस्संदेह राजऋषि कहलाते—मगर मैं तो एक तुच्छ सेवक हूं । मैं अभी तक विनायक हूं । वह ही सीधा और भोला विनायक जो कभी घर से भाग निकला था, सत्य और धर्म-प्रेम की खोज में । मुझे वह दिन कभी नहीं भूला, जब मैंने घर से भागकर बापू के चरणों में शरण ली थी और बापू ने आशीर्वाद देते हुए कहा था—

"विनोबा ! तुम्हें मैं विनोबा कहूंगा, विनायक नहीं, क्योंकि इस जवानी में भी तुम संत दिखाई देते हो । संत विनोबा तुम्हारे मन में जो चमक मैंने देख ली है, उसे ही तो मैं ढूँढ रहा था और वह तुम्हारे चरित्र में मुझे नजर आ गई । ऐसा चरित्र ही सच्चे अहिंसावादी की नींव बनाता है । मेरा सेवाग्राम आश्रम न जाने कब से तुम्हारा इंतजार

कर रहा था, तुम्हारे चरित्र का गर्व ही आश्रम का गर्व बनेगा ।"

मैं नहीं जानता था मुझ में यह विशेषताएँ थीं या नहीं । मेरे जन्म का कोई आदर्श था या नहीं, मगर मैं यह तो जानता था कि बापू कभी झूठ नहीं बोलते थे । झूठ तो पोलिटीशियन ही बोल सकते हैं । झूठ तो वह भूमिपति बोल सकते हैं, जो बंजर धरती दान देकर ढोल पीटने लगते हैं और मेरी प्रार्थना सभाओं में भीगी बिल्ली बनकर बैठे रहते हैं, लेकिन वहाँ से जाते ही गाँवों की असामियों पर शेर की तरह झपट पड़ते हैं ।

लेकिन मैंने तो शेर को भी राम-राम कराना सिखाया है । मुझे तो शेर पर भी क्रोध नहीं आता । क्रोध तो उसे आता है, जिसे कोई भय हो मगर मुझे कोई भय नहीं । मैं शेर की कछार में निडर होकर घुस जाता हूँ और उससे कहता हूँ, "ऐ जंगल के राजा ! क्या तुम बहादुर हो ? वह कहता है —हाँ ! "मैं कहता हूं—"क्या निर्बल ही तुम से डरते हैं ? क्या जो तुम से कम शक्ति रखते हैं उन्हीं का शिकार करते हो ?"

"हाँ ।"

"तो फिर तुम बहादुर नहीं हो ।"

"मगर जंगल के सब जानवर मुझे बहादुर कहते हैं ।"

"वह डर के मारे तुम्हें बहादुर कहते हैं ।" बहादुरी खूनी पंजों में नहीं है, बल्कि दूसरे का मन जीतने में है । शत्रु से मुहब्बत करना ही बहादुरी है । अगर तुम में ऐसी बहादुरी नहीं है तो आओ मुझ पर हमला कर दो ।"

यह सुनकर न जाने क्यों शेर का सर झुक जाता है । शायद मेरी निडरता उसके पंजों को ढीला कर देती है । उसकी आक्रमण-शक्ति जवाब दे जाती है, और वह चुपचाप मेरे साथ हो लेता है । मेरे साथ नगर-नगर वादी-वादी घूमता है । वह मेरा वालिंटियर बन जाता है, और संसार की हर शक्ति से दान की भीख माँगता है ।

और जब जंगल के जानवर, शेर को भिक्षु के रूप में देखते हैं तो उनके मन का भय भाग जाता है। भय ही प्राणीमात्र के दुःख की जड़ है। हर शक्ति भय पैदा करती है। शक्ति का दान ले लो तो भय भी नहीं रहता और उसकी बजाय मन में परिवर्तन आ जाता है। हर मन में सत्य और प्यार की शक्तियाँ सोई रहती हैं। उन्हें जगा दो और फिर देखो कि न तुम चोरी कर सकोगे न स्मगलिंग, न करपशन, न अत्याचार, और न युद्ध।

गाँधी बापू ने इस भेद को पा लिया था और चूंकि मैं उनका एक तुच्छ शिष्य हूं, इसलिए मैं भी इस भेद का पात्र बनना चाहता हूं और बस्ती-बस्ती घूमकर शक्तिदान ले रहा हूं।

जब मैं छोटा सा था तो मेरी माँ मुझे धार्मिक भजन गाकर सुनाया करती थी। इन भजनों में वह रस था जो एक पवित्र और मासूम बच्चे में होता है। सो इन भजनों ने मुझे पवित्रता का दान दिया, इसलिए मेरे मन में न पाप रहा, न लालसा, न घुटन।

—शायद भगवान मुझ पर बड़ा मेहरबान था।

लेकिन मन तो सदा से चंचल है। वह मुझे बार-बार तँग करता है कि जाओ बापू से पूछो कि मन की पवित्रता के लिए क्या करना चाहिए ?

"मन की पवित्रता के लिए क्या करना चाहिए बापू ?"—मैंने एक दिन गाँधी जी से प्रश्न किया। वह मुस्कराकर बोले, "अभिमान को नष्ट कर दो, घृणा के साँप का सर कुचल दो। नीच से नीच काम करो, लेकिन यूं नहीं कि इस नीच काम की प्रशन्सा का इंतजार करते रहो। लोग जब तुम्हारी प्रशन्सा करें तो हैरान होकर यह सोचो कि, यह लोग क्या कह रहे हैं ? कुर्सी को कुर्सी क्यों कह रहे हैं जबकि कुर्सी कुर्सी ही होती है, पलँग नहीं।"

चुनाँचे मैंने एक तपस्या शुरू कर दी। ऋषि,-मुनियों की तरह सिर्फ हवा खाकर ही नहीं, सिर्फ एक टाँग पर खड़ा होकर ही नहीं, बल्कि

गाँधी जी के आश्रम में झाड़ू देकर अपना मलमूत्र खुद साफ करके, अपना खाना आप पकाकर; तो कुछ वर्ष पश्चात मैंने अनुभव किया कि जब मेरे मुंह से शब्द निकलते हैं तो यूं जैसे गँगा का पवित्र और निर्मल जल बहता जा रहा है। मेरे मुंह से ऐसी खरी बातें निकल जातीं जो अगर किसी लीडर के मुंह से निकले तो उसे फाँसी पर लटका दिया जाय ! एक बार मेरे एक वालंटियर ने मुझे कहा—

"बाबा ! (मेरे सभी साथी वालंटियर मुझे बाबा कहते हैं) काश ! आप भारत के प्रधानमंत्री होते तो आपकी निर्भिकता और स्पष्टवादिता से भारत स्वर्ग बन जाता।"

मैंने मुस्कराकर कहा, "भिक्षु ! प्रधानमंत्री को तो हवाई जहाज में जाना पड़ता है, मगर मैं तो पैदल घूमता हूँ। इसलिए मैं प्रधानमंत्री नहीं बन सकता। मैंने सारे हिन्दुस्तान की पैदल यात्रा की है। पैदल चलने से मेरे अंदर धरती की तमाम शक्ति, मेरे पाँवों में संचार कर जाती है। पैदल चलने में एक नम्रता है। इस तरह मेरे पाँव धरती के बिल्कुल करीब रहते हैं, मैं कभी अपने आपको धरती से अलग अनुभव नहीं कर करता। जब मैं भूमि पर चलता हूं तो मुझे यह कभी पराई नहीं लगी। मुझे यह कभी नहीं लगा कि यह धरती किसी भूमिपति की है या किसी मुजारे की, या किसी किसान की; भूमि तो सब की है। भूमि तो मनुष्यमात्र की है जो भगवान ने अपनी प्रजा को प्रदान की है। एक बार मैं एक खेत के बीच में से गुजर रहा था, तो एक साहब ने कहा, "बाबा ! यह खेत निगम बाबू का है जो इस इलाके के एम० एल० ए० हैं।"

मैं रुक गया, खेत की मिट्टी उठाकर सूंघी, उसे कान के करीब ले गया, उसे जबान से चखा और कहा, "यह मिट्टी तो कह रही है कि मैं भगवान की हूं, निगम बाबू की नहीं हूं।"

"हाँ ! मगर निगम बाबू ने यह जमीन आपको दान में दे दी है।"

"मुझे कहाँ दान दी। उसने तो भगवान की जमीन वापस कर

दी। निगम बाबू ने भूमि को कैद कर रखा था अब उसे आजादी दे दी, जैसे अंग्रेज़ ने भारत-भूमि को कैद कर रखा था अब उसे आजादी दे दी।"

मगर मुझे कई बार यह सुनकर तकलीफ होती है कि भूमि-दान करने वाले यह कहते सुनाई देते हैं—"हमने आचार्य विनोबा की आज्ञा पर अपनी भूमि दे दी है अतः हम गाँधी जी के सच्चे अनुयायी हैं। इसलिए हमें वोट दो, क्योंकि हम एम० एल० ए० बनना चाहते हैं।"

अर्थात वे एक प्रकार की शक्ति दान देकर, दूसरे प्रकार की शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। वे दुनिया के साथ सौदा करना चाहते हैं। वे बलिदान का प्रतिफल वसूल करना चाहते हैं। मगर मैं कहता हूं कि ऐसा दान कुर्बानी हरगिज नहीं! जिस कुर्बानी से मन में पवित्रता पैदा नहीं होती उस कुर्बानी का फल कहाँ मिलता है?

दूर-दूर से लोग मेरे दर्शन करने आते हैं। रूस से, अमरीका से, योरुप से। वे मुझ से प्रश्न करते हैं। आश्चर्य-चकित होते हैं कि मेरे जैसा छोटा, पतला सुकड़ा-सा अधनंगा आदमी किस तेजी से चलता है। मेरे तेज-तेज़ चलने की शिकायत बहुत से लोग करते हैं। पद-यात्रा में मेरे साथ जो लोग चलते हैं, वे हमेशा मुझ से पीछे रह जाते हैं, बल्कि कई एक तो भागकर मुझ से आ मिलते हैं और कहते हैं "बाबा! तुम स्वभाव के इतने ठंडे हो, मगर चाल के बहुत गर्म हो।"

और मैं सिर्फ मुस्कराकर चुप हो जाता हूं क्योंकि मैं स्वयं भी तो नहीं जानता कि ऐसा क्यों है? संभव है, इस तेजी का कारण यह हो कि मैं शीघ्र से शीघ्र सारी भूमि का दान वसूल करना चाहता हूं। मगर भूमि इतनी बड़ी है और इन्सान की उमर इतनी थोड़ी कि डर लगता है कि मेरा मिशन अधूरा न रह जाय। चाहता हूं इसी छोटी-सी उमर में पूरा हो जाय, इसलिये तेज-तेज चलता हूं कि हिन्दुस्तान की धरती बड़ी विशाल है और मेरे कदमों का फ़ासला

एक फुट से ज्यादा नहीं।

एक बार एक विदेशी जर्नलस्टि ने मुझ से हँसते हुए कहा, "वैल, आचार्य भावे ! आपकी तरह टालस्टाय की कहानी के एक पात्र ने भी भूमि के गिर्द चक्कर लगाया था। याद है आपको ?"

मैं समझ गया कि वह क्या कहना चाहता है। टालस्टाय मेरे अत्यधिक प्रिय लेखक हैं। उसने अपनी इस कहानी में एक लालची मनुष्य पर व्यंग किया था—उसे कहा गया था कि सूर्यास्त होने तक तुम जितनी भूमि अपने लिए चाहते हो, उसके चारों ओर चक्कर लगाओ। लालची मनुष्य ने ज्यादा से ज्यादा भूमि के गिर्द चक्कर लगाना आरंभ किया। परिणाम यह हुआ कि सूर्य अस्त होने से थोड़ी देर पहले ही उसके जीवन का सूर्य भी अस्त हो गया।

"मनुष्य को अपने लिये ज्यादा से ज्यादा कितनी भूमि चाहिए" ? इस कहानी में टालस्टाय संसार भर के जागीरदारों और जमींदारों पर चोट करना चाहता था। भगवान की धरती बहुत बड़ी है और तुम्हारी उम्र वहुत छोटी है। इस छोटी सी उमर को लोभ में नष्ट मत करो, क्योंकि लोभ भी जमीन की तरह अनंत है, फैला हुआ है।

मैंने उस विदेशी जरनलिस्ट से कहा, "मैं भी टालस्टाय के उस पात्र की तरह हिन्दुस्तान भर की भूमि का चक्कर लगा रहा हूं और चाहता हूं मेरे जीवन का सूर्य अस्त होने से पहले-पहले यह सारी जमीन मेरे अधिकार में आ जाय"।

विदेशी जरनलिस्ट हैरान होकर मेरा मुँह तकने लगा। शायद वह सोच रहा था कि मैं स्वयं ही उसके जाल में फँस रहा हूँ।

मैंने बात को आगे बढ़ाया और कहा—"लेकिन टालस्टाय के पात्र और मेरे पात्र में सिर्फ इतना अंतर है कि वह अपने लिए भूमि प्राप्त करना चाहता था और मैं करोड़ों बेजमीन लोगों के लिए प्राप्त करना चाहता हूँ। वह जागीरदार था। मैं निष्काम योगी हूं और जो व्यक्ति अपने लिए नहीं, दूसरों के भले के लिये हाथ फैलाता है, तो उसकी

झोली कभी भी खाली नहीं रहती।"

"तो क्या इससे आप भारत में जमीन की समस्या पूरी तरह हल कर देंगे ?"—उसने पूछा।

"मैं गवर्नमेन्ट नहीं हूँ। जमीन का कानून कैसे बनाया जाय ? यह काम गवर्नमेन्टों का है। मैं तो सिर्फ एक वातावरण को जन्म दे रहा हूँ और मैंने देखा है कि इस वातावरण ने बेजमीन लोगों में एक जागृति पैदा की है और जमीन वालों के दिलों में यह विचार डाल दिया है कि अब अन्याय ज्यादा देर नहीं चल सकता। या तो वे अपनी जागीरें बाँट दे या फिर एक ऐसी विद्रोहपूर्ण क्रांति का सामना करे, जो उनसे जबरदस्ती जमीन छीन लेगी।

मैं शायद हिन्दुस्तान का एक मात्र व्यक्ति हूँ जिसका निरादर हिन्दुस्तान की कोई पार्टी, कोई ग्रुप और कोई व्यक्ति नहीं करता, चाहे वह कांग्रेसी लैंडलॉर्ड हो, चाहे अधकचरा सोशलिस्ट हो चाहे तेज और गर्म-मिजाज कम्युनिस्ट हो, सभी ने मेरा आदर किया है, यद्यपि कुछ कम्युनिस्ट मेरा मज़ाक भी उड़ाते रहे हैं। वह कहते हैं—'क्या आचार्य विनोवा भावे वेजमीन कृषकों की क्रांतिकारी भावना को मारना चाहता है ?' उनका विचार है कोई भी भूमिपति अपनी मनोच्छा से जमीन का एक इन्च भी नहीं देता। इसलिए जब तक उनसे जबरदस्ती जमीन नहीं छीनी जाएगी, यह समस्या ज्यों की त्यों बनी रहेगी।

शायद यह कम्युनिस्ट अनुभावित सचाई पर हो, और शायद मैं भी इसी सचाई पर हूँ। मैं भी गरीबों और बेबसों को देखकर दुखी हो जाता हूँ, और कम्युनिस्ट भी। शायद हम दोनों की मंजिल एक है, मगर रास्ता अलग अलग है। मैं अहिंसावादी हूँ और अहिंसा एक ऐसी शक्ति है, जो बड़े-बड़े डाकुओं के दिल पिघला देती है। वाल्मीकि भी तो आखिर एक डाकू था, लेकिन जब उसका मन बदला तो वह दुनिया का एक महाकवि बन गया। यही तो भारत देश की मिट्टी का प्रभाव है कि वह योरुप और अमेरिका की आग और खून

की तरह नहीं, बल्कि हल्की-हल्की प्यार की आँच से पिघलती है और सारे संसार को चकित कर देती है। इस मिट्टी का प्रभाव गौतम बुद्ध में था, नानक में था, गाँधी जी में था। लेकिन क्या यह भी ठीक है कि हिन्दुस्तान के पूंजीपति और जागीरदार मेरे आंदोलन को अपने अधिकार में प्रयोग कर रहे हैं ?

और मैं जवाब देता हूँ कि शायद कर रहे हों, मगर इससे क्या फर्क पड़ता है ? इससे मेरे आंदोलन की आत्मा तो नहीं मरती ? मेरा आंदोलन केवल भूमि का आंदोलन तो है नहीं। यह वर्तमान समाज के पूरे परिवर्तन का आंदोलन है—अर्थात यह कि शक्ति को बाँट दो। शक्ति को बाँट देने का एक दाता दान पैदा कर दो। यह ख़याल हर दिल में डाल दो कि जिसके पास जो भी शक्ति है, रुपए-पैसे की, जमीन की, विद्या की, शरीर की, सत्य की, बहादुरी की, वह सब बाँट दो। जो तुम्हारा दुश्मन है, उसे भी अपनी शक्ति बाँट दो तो वह दुश्मन नहीं रहेगा। लेकिन शक्ति इस तरह बाँटो कि तुम्हारे मन में कोई मैल न हो, तुम्हारे दिल में यह ख़याल न आए कि शक्ति बाँट कर उससे निजी लाभ उठाओ। इसलिए जो भी आदमी मेरे पवित्र आंदोलन से निजी लाभ उठाने की चेष्टा करेगा, उसे अपने अधिकार में प्रयोग करेगा, वह आखिर मुंह की खाएगा क्योंकि मेरे आंदोलन में देर है, अंधेर नहीं। मैं कहता हूं आज अमेरिका के पूँजीपति अपनी शक्ति बाँट दें तो वे कुछ वर्ष पश्चात साम्राज्यवादी नहीं रहेंगे, न ही जंगबाज। न वे कहीं अड्डे बनाएँगे न उन्हें हथियार सप्लाई करेंगे, क्योंकि उन्हें आजकल जो डर है वह अपनी शक्ति से है। अपनी शक्ति को बचाने के लिए वे यह सब कुछ करते हैं। लेकिन अगर शक्ति बाँट दें, और सच्ची नीयत से बाँट दें तो अमेरिका के सारे दुःख दूर हो जाएँ। न केवल अमेरिका के, बल्कि हर उस देश के जो दूसरे को निर्बल और अपने आप को शक्तिशाली देखना चाहता है। मुझे तो वह दिन आज भी याद है, जब गाँधी जी ने व्यक्तिगत आंदोलन में मुझे सबसे पहला

सत्याग्राही चुन कर भेजा था। शायद उन्हें विश्वास था कि मेरे कहने और करने में एक समता आ चुकी है। बस वह दिन और आज का दिन— मैं भारत में इसी समता का प्रचार कर रहा हूँ और चर्खे की समत्वपूर्ण घूँ-घूँ मेरा प्रतीक बन चुकी है। और जब भी हर भारतवासी ने चरखे इस समता की घूँ-घूँ को अपना लिया, उस दिन हर भारतवासी के जीवन में राम-राज्य आ जाएगा और हर मनुष्य के जीवन के चरखे की घूँ-घूँ रामधुन गाया करेगी।

लेकिन इसके बावजूद कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि मैं अपना समय और शक्ति गवाँ रहा हूँ। आखिर क्या कारण है कि मेरे भूमि-आंदोलन की प्रशन्सा अमरीकी पूँजीपति करते हैं, मगर भारत की किसान-सभाएँ नहीं करतीं। भारत की पूँजीपति सरकार मेरी वाह-वाह करती है, मगर मेरी बात पर अमल नहीं करती। पूँजीपति अखबार मुझे उछालते हैं, लेकिन जब जमींदार लोग किसानों पर गोलियाँ चलाते हैं, तो यह अखबार किसानों को ही दोषी ठहराते हैं। मेरी सभाओं में वही लोग बढ़-चढ़कर भाग लेते हैं, जो संसार से उकताए हुये हैं।—इसलिए मुझे यूँ लगता है जैसे ये लोग अपना मन नहीं बदलना चाहते, बल्कि मेरे साथ धोखा कर रहे हैं। तो क्या अहिंसा का प्रचार धोखेबाजों को अपील करता है, या मैं इतिहास को एक बहुत बड़े धोखे की ओर ले जा रहा हूँ ? कुछ समझ में नहीं आता। अहिंसा की रोशनी में भी सब तरफ अंधेरा बढ़ता जा रहा है। मशीन-काल की गड़गड़ाहट मेरे मिशन का मज़ाक उड़ा रही है। आह ! शायद मैं समस्या को सुलझा नहीं रहा हूँ बल्कि उलझा रहा हूँ। हे भगवान ! अगर मैं ऐसा कर रहा हूँ तो मुझे क्षमा कर देना, क्षमा कर देना, क्षमा कर देना…।"

जी. डी. बिरला

"—बिरला—चार अक्षरों का कितना छोटा सा नाम है, जो लिखते समय एक-तिहाई इंच से भी अधिक जगह नहीं घेरता; लेकिन यही एक-तिहाई इंच का नाम हिन्दुस्तान के चालीस लाख वर्ग-मील क्षेत्र को अपने घेरे में लिए हुए है...।"

जी. डी. बिरला

यह जो आपके हाथ में सन का थैला झूल रहा है और जिसमें आप मार्किट से सौदा-सुल्फ भर कर ला रहे हैं, इस थैले का एक राजनीतिक महत्व है।

थैला और राजनीतिक महत्व ?—यकीनन एक अहमकाना ख़याल है। लेकिन मैं क्या करूँ; कि अहमक आम-तौर पर सच्चे होते है ! अतः पटसन का यह थैला भी एक राजनीतिक सच्चाई है, क्योंकि इस थैले के एक-एक रेशे में एक-एक निगाह बुनी गई है। यह निगाह हिन्दुस्तान के मशहूर पोलिटिकल सेठ श्री घनश्यामदास जी बिरला की है। रेशे-रेशे में बुनी हुई बिरला की यह निगाह आपके साथ-साथ चल रही है, और यह देखे जा रही है कि कब यह थैला फटे और कब आप एक और थैला मार्किट से खरीद कर लाएँ।

जितनी तेजी से थैले फटेंगे, उतनी ही तेजी से सेठ बिरला के बैंक में रुपए जमा होते चले जाएँगे और उतनी ही तेजी से सेठ बिरला की जूट की मिलें चलने लगेंगी और जितनी तेज़ जूट मिलें चलेंगी उतनी ही तेजी से भारतीय संसद के राजमहल में वाद-विवाद होगा।

"गवर्नमेन्ट प्राइवेट-सैक्टर को दूध पिला-पिला कर पूँजीवाद को बढावा दे रही है और सोसाइटी के सोशलिस्ट ढाँचें का सिर्फ खाली-खूली ढोंग रच रही है।"

"यह गलत है। गवर्नमेन्ट पब्लिक-सैक्टर को बढ़ावा दे रही है, लेकिन प्राइवेट-सैक्टर को भी मौत के घाट नहीं उतारना चाहती।

गवर्नमैन्ट दोनों सक्टरों को अपना बच्चा समझती है, इसलिए दोनों को दूध पिला रही है।" इस पर वोटिंग की माँग होती है। गवर्नमेन्ट जीत जाती हैं। सेठ बिरला जीत जाता है और वह अपनी जूट मिलों को हुक्म देता है, "पटसन के थैले को और महँगा कर दो, क्योंकि गवर्नमैन्ट हमारे साथ है।"

—और इस तरह आपके हाथ में झूलता हुआ पटसन का थैला राजनीतिक महत्व धारण कर लेता है। ख़याल अहमकाना सही, परंतु अत्यंत सच्चा है !

बिरला—चार अक्षरों का कितना छोटा सा नाम है, जो लिखते समय एक तिहाई इंच से भी अधिक जगह नहीं घेरता; लेकिन यही एक तिहाई इंच का नाम हिन्दुस्तान के चालीस लाख वर्ग-मील क्षेत्र को अपने घेरे में लिए हुए है—अर्थात यह नाम चालीस लाख वर्ग-मील लंबा-चौड़ा है। यूँ अगर देखा जाए तो सेठ बिरला भी तन पर वही तीन कपड़े पहनता है, जो शामदास क्लर्क पहनता है, लेकिन फ़र्क यह है कि यह कपड़े बिरला की मिलें ही बनाती हैं और शामदास क्लर्क के हाथ बेचती हैं; जब कि शामदास क्लर्क कुछ भी नहीं बनाता, उसके हाथ में कुछ भी नहीं है, जिससे उसका नाम भी हिन्दुस्तान में गूँज सके। उसका नाम तो केवल मुहल्ले का वह दुकानदार जानता है, जिससे वह सौदा-सुल्फ उधार लेता है। साबुन, कपड़े थैले, दवाइयाँ, पुर्ज़े—(और यह तमाम वस्तुएँ बिरला ही बनाता है)।

यानी शामदास क्लर्क के, आपके, हम सब के जीवन पर सेठ घनश्यामदास बिरला का कंट्रोल है। वह छाया की तरह हमारी आवश्यकताओं के साथ-साथ रहता है। छियासठ वर्ष का यह लगभग बूढ़ा सेठ जो खद्दर की एक गोल टोपी पहने रहता हैं, चालीस करोड़ हिन्दुस्तानियों पर राज करता है—उनके दिलों पर नहीं—बल्कि उनकी जेबों पर। दिलों पर तो गाँधी राज्य करता था, लेकिन जेबों पर राज्य करने के लिए भी एक आदमी की सख्त जरूरत थी। अतः गाँधी

जी की नजर ने सेठ घनश्यामदास बिरला को चुन लिया। कई लोग कहते हैं, गाँधी जी ने बिरला को नहीं चुना, बल्कि बिरला ने गाँधी जी को चुना !

अतः जिससे जिसको भी चुना, मगर एक समय ऐसा आया कि गाँधी और बिरला के नाम एक-साथ लिए जाने लगे। बिरला का नाम गाँधी जी की प्रार्थना सभाओं में गूँजने लगा और गाँधी जी का नाम क्योंकि हिन्दुस्तान के चालीस लाख वर्ग-मील क्षेत्र में गूँजता था इसलिए उनके साथ-साथ बिरला भी चालीस लाख वर्ग-मील तक फैल गया और शायद इसलिए शामदास क्लर्क और उसके समस्त परिश्रमी भाई-बंद स्टेजों पर यह गीत गाने लगे—

'यह टाटा बिरला डालमियाँ की नगरी है,
यह अपना हिन्दुस्तान नहीं !'

यूँ तो हिन्दुस्तान में सैंकड़ों ऐसे सेठ रहते हैं, जिनकी पूँजी शायद सेठ बिरला से कहीं ज्यादा होगी, लेकिन सेठ बिरला ही एकमात्र पूँजी-पति है, जो देशभक्त और राष्ट्रीयता का पुजारी भी कहलाता है। इस तेज़-नजर और दूरदर्शी पूँजीपति ने शायद शुरू में ही भाँप लिया था कि अंग्रेज़ के बाद आने वाले हिन्दुस्तान की रूप-रेखा क्या होगी ? राष्ट्रीयता और देश-भक्ति के जोशीले जन-प्रवाह में वह ही पूँजीपति सफल होगा, जो राष्ट्र और देश का भक्त बनकर नदी के किनारे आँखें मूँद कर बैठेगा और मछलियों को हड़पने की जंतक विधि अपनाएगा।

चुनाँचे इस मारवाड़ी सेठ बिरला की निगाह देश के राष्ट्र-भक्त काँग्रेसी लीडरों पर पड़ी और जैसे आँखों ही आँखों में उनसे कहा, "आप मेरी रक्षा करें, मैं आपकी रक्षा करूंगा, और चूँकि दोनों को जन-साधारण से रक्षा की आवश्यकता थी, इसलिए एक ऑनरेबिल एग्रीमेन्ट चुपचाप निश्चित हो गया, और अंग्रेज़ के विरुद्ध लड़ाई में जहाँ सेठ बिरला ने लीडरों को खुले दिल से रुपया दिया, वहाँ जनता

के विरुद्ध लड़ाई में लीडरों ने सेठ बिरला का साथ दिया। हालत यह हो गई कि जन-साधारण ने भी सेठ बिरला का नाम इज्जत से लेना शुरू कर दिया। वह दानवीर कर्ण कहलाया! उसने जो उद्योग जारी किए उन पर 'जनता की सेवा के लिए' का लेबल चिपका दिया! उसने टैक्सटाइल मिलें खोलीं तो भी जनता की सेवा के लिए। बैंक खोले तो भी जनता की सेवा के लिए। जूट मिलें चलाईं तो वे भी जनता की खातिर। कैमिकल इन्डस्ट्रीज़ खोली तो जनता के हित के लिए। समाचार-पत्र निकाले तो भी जनता के पढ़ने के लिए...

अर्थात वह राष्ट्रीय आंदोलन का प्राणदाता कहलाने लगा और राष्ट्रीय लीडरों की आत्मा में घुस गया, दिल व दिमाग में घुस गया, उनकी विचार-धारा में प्रविष्ट हो गया। यहाँ तक की राष्ट्रीय लीडर जब भी कोई बात सोचते तो सेठ बिरला यह सुनकर चकित रह जाता कि यही बात तो मैंने भी सोची थी कि एक ऐसे मोटर बनाऊँ जो शुद्ध हिन्दुस्तानी कहलाए। उसका नाम हिन्दुस्तान मोटर हो, जिसके इश्तहार पर लिखा हो—"अपने राष्ट्रीय उद्योग को उन्नत कीजिए!"

हिन्दुस्तान मोटर

राष्ट्रीय पूंजी से, राष्ट्रीय कारीगरों के हाथ से बनी हुई, राष्ट्रीय आवश्यकता के लिए राष्ट्रीय उपहार!

नोट—चाहे उस मोटर के अधिकतर पुर्जे विलायत से मँगवाकर जोड़े गए हों, लेकिन वह राष्ट्रीय परिश्रम कहलाएगा, क्योंकि इसका लाभ राष्ट्रीय सेठ बिरला को प्राप्त होना था।

सेठ घनश्यामदास बिरला प्रकट रूप में एक सीधा-साधा और भोला-भाला मनुष्य दिखाई देता है। आप उसे दूर से देखें तो एक ऐसा रिटायर्ड आफिस-सुपरिन्टेन्डेंट मालूम होता है, जो छड़ी हाथ में लिए प्रातः की सैर को निकलता है, मंदिर जा कर श्रद्धा से माथा टेकता है और त्याग की मूर्ति दिखाई देता है।

सेठ बिरला भी प्रतिदिन प्रातः सैर के लिए चहलकदमी को जाता है, नम्रता, श्रद्धा और प्रेम की तस्वीर बना हुआ। लेकिन उसके अंदर एक तूफान मचा रहता है। उसके दिमाग के पर्दे पर अपनी कंपनियों की लंबी-लंबी वार्षिक रिर्पोटें और बैलेन्स-शीट फैले हुए होते हैं। उसकी उकाब जैसी निगाहों में पूरी पार्लमिन्ट सैशन लगाकर बैठी होती है और सेठ बिरला को बताती रहती है कि कानून का कौन सा मसविदा कौन सा मोड़ काटेगा तो सेठ बिरला को करोड़ो रुपयों का लाभ हो जाएगा। उसके समीपी क्षेत्र कहते हैं, "सेठ जी० डी० बिरला बड़ी शांति की नींद सोता है। आठ घंटे की भरपूर नींद—बिल्कुल बच्चों की तरह! ऐसी गहरी नींद जैसे उसे कोई चिंता न हो।"

और यह ठीक भी है, उसे चिंता क्यों हो, जबकि उसके बिज़नेस की चिंता करने के लिए बड़े-बड़े मंत्री और अफसर मौजूद हैं। उसके व्यापारिक राज्य का सारा कारोबार अत्युत्तम ढंग से चलता रहता है, इसलिए वह सुख की नींद सोता है। नींद तो केवल शामदास क्लर्क की उड़ जाती है, जब उसे मालूम होता है कि सेठ बिरला ने पहनने के कपड़े मार्किट में और मंहगे कर दिए हैं; और आय बढ़ाने के लिए सेठ बिरला आवाज तक नहीं उठाने देता बल्कि आवाज बंद करने के लिए गवर्नमेन्ट से कानून बनाने की दर्खास्त करता है, जो किसी न किसी शक्ल में मंजूर भी हो जाती है।

जब भारतवर्ष स्वतंत्र हुआ तो बिरला ने अपने मकानों पर सबसे ज्यादा बिजली के बल्ब जलाए, क्योंकि उसने अनुभव किया अब बिरला-युग आ पहुँचा है। गोरा पूँजीपति पीछे हट गया और मैदान काले पूँजीपति के लिए खुला छोड़ गया है। गोरा पूँजीपति बड़ा मछली था, जो छोटी मछली अर्थात बिरला को निगले जा रहा था। उसके जाने के बाद अब बिरला ही बड़ी मछली था। लोग लाख कहते फिरें कि बिरला पूँजीपति है, निर्धन ज़नता का खून चूस रहा है, परंतु जब गांधी जी ने खुले रूप से प्रार्थना सभा में कह दिया कि बिरला

हमारा भाई हैं तो निर्धन-जन क्यों न उसे भाई समझेंगे ? जन-साधारण का भाई, बड़ा भाई, बड़ी मछली जो छोटे भाइयों, अर्थात जन-साधारण को इस डेमोक्रेटिक तरीके से निगलेगी कि सब अश-अश कर उठेंगे !

अतः बिरला डेमोक्रेट बन गया । उसने घोषणा कर दी कि वह काँग्रेसी राज्य के सोशलिस्ट ढाँचे का साथ देगा—यानी वह नए-नए कारखाने लगाएगा । यूरोप और अमरीका से भारी मशीनें मँगाएगा । भारत को एक औद्योगिक देश बनाएगा । इस उद्योग से जो धन पैदा होगा, वह ही सोशलिस्ट ढाँचे का धन कहलाएगा !

चुनाँचे बिरला की इस "डेमोक्रेसी" ने भारत के बाकी तमाम पूंजीपतियों को पछाड़ दिया । "बिरला सोशलिज्म लाना चाहता है" यह बात इतने जोर-शोर और ढोल-ताशे के साथ कही जाती रही कि बाकी पूँजीपति परेशान हो गए । स्वयं जनता परेशान हो गई । उनकी समझ में नहीं आता था कि एक पूंजीपति सोशलिस्ट कैसे बन सकता है । यकीनन कोई गड़बड़ है ।

लेकिन बिरला के मस्तिष्क में कोई गड़बड़ नहीं थी । उसने कहा—"भारत देश की यही डेमोक्रैसी है । अगर विश्वास नहीं आता तो जवाहरलाल जी से पूछ लो, मुरार जी भाई से पूछ लो, पंडित पंत से पूछ लो !"

एक ज्योतिषी का कथन है, कि मैंने बिरला जी के हाथ की रेखाएँ देखी हैं । वह एक सौभाग्यशाली मनुष्य है इसलिए उस के भाग्य के लिखे को निर्धन जनता नहीं मिटा सकती ।

इसलिए ज्यों-ज्यों हिन्दुस्तानी सोशलिज्म आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों बिरला की आमदनी आगे बढ़ती है । वह जिस चीज को भी हाथ लगाता है, करन्सी बन जाती है और उसकी सफलता की सारी जड़ इसी बात में है कि वह भारतीय जन-साधारण की आत्मा को भाँप गया है । गाँधी जी ने उसे जन-साधारण को समझना सिखाया । उनके

आचार को, धर्म को, भावनाओं को, मनोविज्ञान को, राजनीति को—और बिरला जी हिन्दुस्तानी जनता को जान गए, उनकी त्रुटियों को समझ गए। त्रुटियों को समझे बिना पूंजीपति बनना आसान नहीं—विशेष तौर पर देश-भक्त पंजीपति बनना !

चुनांचे इसके लिए बिरला जी ने अनगिनत पापड़ बेले हैं और लगातार बेले जा रहे हैं। हर पापड़ पहले पापड़ से करारा होता है। पहले पापड़ से महँगा होता है और जनता आँखें बंद करके खुशी से खाती है। यहाँ तक की बिरला जी अगर, रेफ्रीजरेटर भी तैयार करते हैं तो उस पर 'मेड इन इण्डिया' लिख देते है चाहे उसके अंदर हर पुर्जे पर 'मेड-इन-इंगलैंड ही क्यों न लिखा हो।

बिरला जी के पापड़ में भारतीय जीवन का हर प्रकार का मसाला डाला जाता है; अर्थात वह कई अखबार चलाता है जो उसकी देश-भक्ति और उसके कारखानों का प्रोपेगंडा करते है। उसने एक अत्यंत सुंदर बिरला-मंदिर बना डाला। वहाँ देवताओं की मूर्तियाँ अपने खामोश मुख से "बिरला जी" "बिरला जी" का उच्चारण करती मालूम होती है, और यहाँ हर रोज हजारों व्यक्ति श्रद्धा के फूल चढ़ाने, स्नान करने, भजन गाने और सैर करने के लिए जाते हैं। मंदिर को हिन्दुस्तान का एक सुंदर और निराला अजायबघर और धार्मिक सेन्टर बनाने के लिए बिरला जी ने लाखों रुपए खर्च कर दिए और धर्म और श्रद्धा चूंकि भारतवासियों की सांस्कृतिक कमज़ोरी हैं, इसलिए बिरला जी के इस लाखों रुपयों के बलिदान को प्रत्येक नर-नारी सराहता है और मंदिर का नाम चूंकि बिरला-मंदिर हैं, इसलिए एक बस-कन्डक्टर भी ऊँची आवाज में कहता है, "चलो भई ! बिरला मंदिर बस-स्टाप वाले उतर जाएँ।"

एक बार एक शरीर जर्नलिस्ट ने कहा था, "वास्तव में यह मंदिर बिरला जी के पब्लिसिटी डिपार्टमेन्ट का कारनामा है। यह एक सुंदर विज्ञापन है, जिसका बिल लाखों रुपए आया है।

अर्थात बिरला जी मॉडर्न भारत के धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक राजा है, और हम सब उनकी प्रजा हैं। उन्होंने भारत की सबसे बड़ी राजनैतिक शादी उस वक्त करवाई जब गाँधी जी के सुपुत्र श्री देवदास गाँधी के यहाँ अपनी बेटी का रिश्ता करवा दिया। हर बड़े शहर में बिरला हाऊस बनवाए और कहा, "यह हमारे प्यारे कौमी नेताओं के रेस्ट-हाउस के काम आएँगे !" उन्होंने कई विधवाओं और अनाथों के लिए वजीफे बाँध दिए ताकि वह यह न समझें कि उनका कोई "माई-बाप" नहीं है ! उन्होंने सोशल संस्थाओं के लिए कई फंड खोले ताकि सामाजिक वर्करों को पैसे की चिंता न रहे और उन्होंने जनता की दैनिक आवश्यकताओं के लिए थैले, कपड़े और साबुन के पैकेट बनाए, ताकि वह यह न समझें कि भारत देश नंगा-भूखा है।

और इसके मुकाबले पर बिरला जी ने स्वयं सादे जीवन को अपनाया, और साधारण वेष, बिना मांस के सादा भोजन, बच्चों की सी सादा नींद ! उसे देखकर कौन कह सकता है कि यह आदमी अमरीका और यूरोप के अरबपति व्यापारियों के साथ बैठकर, ऐसे-ऐसे सौदे बहुत सफाई से करता है कि वह इस संत किस्म के पूंजीपति को देखकर दाँतों में उँगली दबा लेते हैं। उसकी नीति पर ईर्ष्या करते हैं और फिर हँसी-खुशी उसके साथ पूंजी लगाकर भारत भेज देते हैं, इस तसल्ली के साथ कि बिरला जी के हाथों में हमारी पूंजी सुरक्षित रहेगी, सच्चे सोशलिज्म का शिकार नहीं हो जाएगी।...

परंतु कोई नहीं जानता कि जब हिन्दुस्तान में ही सच्चा सोशलिज्म आ जाएगा तो भारतीय जनता की आत्मा को जानने वाला यह जनता का सेवक पूंजीपति किस करवट बैठेगा। मेरा विचार है कि यदि वह सच्चा भारतीय है तो शायद उस समय भी जनता के लिये पटसन के थैले बनाने की पेशकश करेगा, केवल इस फर्क के साथ कि वह थैले महँगे नहीं कर सकेगा, क्योंकि उस समय जूट मिलें, लाभ के लिए थैले नहीं बनाया करेंगी, बल्कि जनता की आवश्यकता के लिए बनाया करेंगी।

कृष्ण चन्द्र

"—उसका साहित्यिक कद बराबर बढ़ता रहा मगर उसके चरित्र का कद वही का वही रहा । दस साल पहले भी उसे देखकर यह शक पड़ता था, कि यह व्यक्ति कृष्ण तो हो सकता है, लेकिन लेखक बिल्कुल नहीं और दस साल बाद भी…"

कृष्ण चन्द्र

एक बार दिल्ली के काफ़ी हाऊस में पंजाबी भाषा के एक फटीचर से लेखक अपने कमीज के कॉलर को बार-बार उचकाते हुए कह रहे थे—"पिछले हफ्ते कृष्ण चन्द्र से बम्बई में भेंट हुई। उन्होंने मुझे ब्रेक-फास्ट पर बुलाया था। उन्होंने मुझे बढ़िया सिग्रेट पिलाई। मुझ से कहने लगे अपनी पंजाबी कहानी सुनाओ। मैंने सुनाई तो काफी प्रशन्सा करते रहे और यूँ दो-तीन घंटे उनसे गपशप लड़ती रही। कल उनका एक ख़त आया है कि······"

और मैंने अनुभव किया कि उस पंजाबी लेखक (मैं क्या करूँ वह अपने आपको वाकई लेखक कह रहा था) की यह बात सुनकर चारों तरफ बैठे हुए लोग बड़े प्रभावित हुए। उनकी आश्चर्यपूर्ण आँखे जैसे कह रही थीं, "अच्छा ! क्या तुम कृष्ण चन्द्र से मिले ? क्या वास्तव में इतने बड़े आदमी से ? क्या तुम उसके साथ गपशप भी लड़ाते रहे ? कमाल है ! (तुम यक़ीनन अच्छी कहानियाँ लिखते होंगे !)"

और मैं यह हालत देखकर खामोशी से मुस्कराता रहा। किसी का जादू तोड़ना शराफ़त नहीं, घटिया हरकत है। पंजाबी लेखक ने अपनी जो धौंस जमा दी थी, उस पर अगर मैं टीका-टिप्पणी करता तो आस-पास बैठे हुए कृष्ण चन्द्र के प्रशन्सक मुझ पर टूट पड़ते। अगर मैं उन्हें यह बता देता कि कृष्ण चन्द्र प्राचीन काल का कोई घमंडी देवता नहीं है, बल्कि वर्तमान काल का एक सीधा-साधा इन्सान हैं, तो लोग कहाँ

मानते ? जिन इन्सानों की पूजा की जाय उनके बारे में यह सोचना भी पाप समझा जाता है कि कल वह अपनी बाइस्किल में पँकचर लगवा रहे थे ! लोग जिन की पूजा करते हैं, उन्हें जमीन पर पाँव नहीं धरने देते । चाहे कृष्ण चन्द्र खुद भी आकर उनके किवाड़ खट-खटाए और कहे, "भैया सूर्यभान, मैं कृष्ण चन्द्र हूँ !" तो वह कृष्ण चन्द्र को भी झाड़ पिलाकर भगा देगा कि कृष्ण चन्द्र बनने से पहले, कृष्ण-चन्द्र की तरह कहानियाँ लिखकर दिखाओ ।

और इस जलती पर अगर मैं यह तेल डाल देता कि, "ऐ कृष्ण-चन्द्र से सिगरेट पीने वाले लेखक ! कृष्ण चन्द्र तो खुद कभी सिगरेट खरीदता ही नहीं, दोस्तो से माँग कर पीता है," तो कृष्ण चन्द्र के पुजारी मुझे छुरा घोंप देते ! "क्या कृष्ण चन्द्र अपना सिगरेट भी नहीं खरीद सकता ? क्या बकवास करते हो ।"

मगर सच कहने में क्या बुराई है कि कृष्ण चन्द्र साहित्य-मंदिर का कोई घमंडी बुत नहीं हैं, बल्कि बुत तो वह सिरे से है ही नहीं । एक जीता-जागता और साधारण सा इन्सान है । वह हरेक से मिल सकता है, हरेक से गप-शप लड़ा सकता है । हरिजन कॉलोनी के एक भंगी से लेकर, केन्द्रिय राज्य के वित्त मन्त्री तक—हरेक से वह मिलता है । उससे मिलना कोई बहादुरी नहीं । आप अपने मुहल्ले के हैड-क्लंक श्री ओम प्रसाद से, जो सफेद पैन्ट और सफेद कमीज पहनकर दफ्तर में बैठता है, मिलना चाहें तो शायद वह अकड़ जाय और कह दें, "आज समय नहीं है, परसों आना", मगर हिन्दुस्तान के महान लेखक कृष्ण चन्द्र से अगर आप कहें कि मैं आपसे मिलना चाहता हूँ तो वह सौ काम छोड़कर भी आपसे मिलने में खुशी महसूस करेगा, यद्यपि कृष्ण चन्द्र भी हैड-क्लर्क की तरह सफेद कमीज और सफेट पैन्ट पहनता है ।

इसलिए जो आदमी कृष्ण चन्द्र से मिलने के बाद अपना बडप्पन और घमण्ड जाहिर करता है वह या तो फ्रॉड है या जाहिल—कि

कृष्ण चन्द्र को समझ ही न पाया।

कृष्ण चन्द्र को मैंने भी देखा है, उससे कई भेंटें भी हुई हैं, लेकिन हर भेंट में कृष्ण चन्द्र वह ही कृष्ण चन्द्र दीखा है, जो पाँच साल पहले था, आठ साल पहले था, पन्द्रह साल पहले था—वही ठिगना सा क़द, हालाँकि उसका साहित्यिक क़द बराबर बढ़ता रहा, मगर उसका चरित्र का क़द वही का वही रहा। दस साल पहले भी उसे देखकर यह शक पड़ता था कि यह व्यक्ति कृष्ण तो हो सकता है, लेकिन लेखक बिल्कुल नहीं, और दस साल बाद भी उस पर लेखक होने का गुमान नहीं होता क्योंकि वह आम बोल-चाल में न तरार है, न शोख। न उसकी बात चीत के वाक्यों में वह मतवाला कर देने वाला जादू होता है जो उसकी कहानियों में अलफ-लैलवी बहाव और गुम कर देने वाली स्थिति पैदा कर देता है। वह जब भी मिलता है उसी तरह थूक रहा होता है, जैसे दस साल पहले थूकता था, इसलिए हर मिलने वाले को यह शक करने का हक हासिल है कि अगर यह व्यक्ति लेखक होता तो क्या इतने वर्षों में अपनी थूक की त्रुटि भी दूर नहीं कर सकता था ? जबकि यह अपनी योग्यता से अपनी कई साहित्यक त्रुटियाँ दूर कर चुका है। लेकिन जैसा कि मैंने कहा है कि कृष्ण चन्द्र एक साधारण व्यक्ति है, एक स्वाभाविक आदमी है जो अपने स्वभाव को बनावट के मर्ज़ में फँसाकर अपना नाश नहीं करना चाहता। उसके कई समकालीन लेखकों को बनावट का गर्व प्राप्त है। अगर वह पन्द्रह साल पहले किसी प्रयोग किए हुए लिफाफे के पीछे अपनी किसी नई कहानी के प्वाइन्ट लिखा करता था, तो आज भी उस पर लिफाफा-परस्ती कायम है—हालाँकि वह अपनी रॉयल्टी से इतने ज्यादा पैड खरीद सकता है कि हिन्दुस्तान के तमाम लेखकों को बतौर गिफ्ट भेज सकता है।

वह नफ़ीस से नफ़ीस फाऊन्टनपैन खरीद सकता है, मगर बेचारा क्या करे, जब भी लिखेगा निब वाले होल्डर से ही लिखेगा और इतना बारीक लिखेगा कि एडीटर और कम्पोज़ीटर के लिए मुसीबत खड़ी

कर देगा, लेकिन अब एडीटर और कम्पोजीटर उसके स्टाइल से इतने ज्यादा परिचित हो चुके हैं कि कृष्ण चन्द्र का निब से लिखा हुआ शब्द सही पढ़ लेते है। उदाहरण के लिए अगर यह लिखा हो, "जल्दी करो।" तो एडीटर उसे "जल्दी करो" नहीं पढ़ेगा, बल्कि जागीरदारी पढ़ेगा (क्योंकि कृष्ण चन्द्र जागीरदारों को सख्त आड़े हाथों लेता है)।

आज-कल कृष्ण चन्द्र बम्बई में रहता है। पन्द्रह साल पहले वह जिस किराए के बंगले में आकर उतरा था, आज तक वहीं है, क्योंकि वह "वफ़ादारी बशर्ते उस्तवारी" का अनुयायी है। वह वफ़ा का पुतला है। हर चीज से वफ़ा करता है, चाहे वह बंगला हो, राहे राजनीतिक दृष्टिकोण हो, चाहे साहित्यक दोस्त हों, चाहे प्यार-भरा लहजा हो, चाहे फिजूल-खर्ची हो, और चाहे थूकने की आदत हो। किसी से अपनी वफ़ा नहीं छोड़ता, बल्कि निभाए चला जाता है—सिवाय इश्क के क्योंकि इश्क से उसकी निभती नहीं। इस मामले में वह हरजाई है, शायद इसलिए कि वह किसी आदर्श प्रेमिका की तालाश में है, जो उसकी कहानियों में कभी-कभार नित्शे के "सुपरमैन" की तरह झाँकने लगती है, मगर वास्तविकता का रूप धारण नहीं करती। उसकी वह प्रेमिका उसकी कल्पना के कोमलतम परदों पर थरथराती रहती है और कृष्ण चन्द्र को इतना बैचेन किए रखती है कि न उसके हाथ आती है, न उससे दूर भागती है और शायद उसकी यही बैचेनी नए से नए इश्क की तरफ उमगती रहती है। कृष्ण चन्द्र ने जिस समय जिस प्रेमिका को कहानियों के अंतरस्थ में तलाश कर लिया है, वह उसे जिंदगी के बाहर क्यों नहीं मिल रही—इस बात पर आवेश में आकर यह खामोश और गंभीर इन्सान भीतरी हिजान का शिकार हो जाता है। (खुदा करे उसे यह प्रेमिका न मिले और उसका हिजान स्थापित रहे कि यही हिजान उसकी कहानियों को एड़ लगाने का कारण है।)

कृष्ण चन्द्र की ज़ेब आम तौर पर खाली रहती है, क्योंकि जब भी

उसकी जेब भरती है वह उसे फौरन खाली करने पर तुल जाता है और फिर कर्ज लेना शुरू कर देता है। जेब खाली होने पर उसके घरेलू नौकर भाग जाते हैं। आप जब भी कृष्ण चन्द्र से मिलेंगे, वह यही शिकायत करता नजर आएगा कि उसका नौकर भाग गया है। अगर वह लेखक की बजाय एक सफल वकील होता (क्योंकि उसने अपना करियर बनाने के लिये एल एल बी० किया था।) तो उसके नौकर कभी न भागते। उसने प्रारंभिक जीवन में साइन्स की परिक्षाएँ दीं, वकालात पास की, क्रिकेट के मैच जीते, मगर न वह साइन्सदान बन सका, न वकील, न खिलाड़ी। एक बार तो उसे राजनीतिक लीडर बनने का शौक भी चढ़ आया था। इस सम्बंध में एक मास जेल भी काट आया, लेकिन प्रकृति ने हँसकर कहा, "पगले! मन की आखें खोलो! क्या टमक-टुइयाँ मार रहे हो! दूसरों की आँख से अपने आपको मत देखो। मैंने तुम्हें अपनी आँखें किस लिए प्रदान की हैं? तुम अपने आप से बचकर नहीं जा सकते। यह लो कलम और कागज। यही तुम्हारा कैरियर है।"

चुनाँचे जैसा कैरियर उसे नसीब हुआ, जेब भी वैसी ही नसीब हुई और फिर जो आदमी उम्रभर पैसा-परस्ती के सर पर कलम की तलवार बनकर लटकता रहा हो, उसे पैसे-धैले से क्या काम? हिदुस्तान में पैसापंथी लेखकों की कमी नहीं मगर वह कृष्ण चन्द्र की तरह सुंदर साहित्य भी तो निर्मित नहीं कर सकते। पैसा तो खूबसूरती को भोंडा बना देता है, चाहे पैसे से एक लेखक का घर अत्युत्तम फर्नीचर से भर जाय परंतु कृष्ण चन्द्र तो एक टूटी कुर्सी पर बैठकर भी सुंदरतम कहानियाँ लिख सकता है, इसलिए वह अत्युत्तम फर्नीचर क्यों खरीदे? चुनाँचे वह नहीं खरीदता। खरीदता है तो उसकी देखभाल नहीं कर सकता। इसलिए आप उसके बंगले में जाएँ तो वह नाम से जरूर बंगला कहलाता है, बल्कि "चार बंगला' कहलाता है, मगर अंदर से एक मामूली सा मकान नजर आता है। मकान सजा-धजा

हो तो आदमी अमीर नजर आता है, लेखक नहीं।

लाहौर से अंग्रेजी की एक पत्रिका निकलती थी, नाम था "कैरियर"। कृष्ण चन्द्र ने अपना कैरियर इसी पत्रिका से आरंभ किया। यह शायद १९३९...४० की बात है। उन दिनों हिन्दुस्तान के स्वतंत्रता-आंदोलन में लेफ्टविंग (बायाँ बाजू) के लोग तेजी से उभर रहे थे। कृष्ण चन्द्र उन निपुण और प्रगतिशील युवकों में से था जो साहित्यक मोर्चे पर उस धुँध को हटा रहे थे जो गाँधी जी और उनके अनुयायियों ने फैला रखी थी यानी स्वतंत्र भारत के समाज की रूप-रेखा क्या होगी, इस पर गाँधी जी और बाएँ बाजू में एक गर्म किस्म का मानसिक युद्ध शुरू हो चुका था। कृष्ण चन्द्र इस युद्ध में बाएँ बाजू वालों के साथ था (और आज तक भी है।) और बाएँ बाजू के साहित्यक मोर्चे की बागडोर आधुनिक, प्रगतिशील लेखकों के हाथ में आ चुकी थी। चुनाँचे उत्तरी भारत में प्रगतिशील लेखकों का जो एक बहुत बड़ा काफिला चल पड़ा था, कृष्ण चन्द्र उस काफिले के मुखियाओं में एक था। चुनांचे मैं ज्यादा तो नहीं जानता, मगर जब मुझे कुछ वर्ष मजदूरों और किसानों में काम करने का अवसर मिला तो मैंने अनुभव किया कि इनमें से एक बहुत बड़ी संख्या के माथों पर कृष्ण चन्द्र की कहानियों की ज्योति है और मैं कहता हूँ कि कृष्ण चन्द्र के विरोधी चाहे लाख सच्चाई पर हों (विरोधी कई बातें सच्ची भी कह जाया करते हैं।) मगर यह ज्योति ही कृष्ण चन्द्र की इतनी बड़ी देन है कि मैं उसका मामूली कलात्मक अपराध माफ करने को तैयार हूँ।

मैंने देखा है कि कृष्ण चन्द्र की कहानियाँ पढ़कर लोगों में एक साहस और गर्मी सी पैदा हो जाती है। कृष्ण चन्द्र के इस साहस और गर्मी में पथरीली उत्तेजना नहीं होती, बल्कि वह उसमें हल्की-हल्की रूमानियत के गुलाबी, नारँगी, काशनी रँग के फूल भी खिला देता है। इन फूलों में एक जादूभरी सुगंध पैदा करता है और पाठक को अपने जादूभरे स्टाइल में अपने साथ बहा ले जाता है। काफी दूर तक साथ

बहा ले जाता है, बल्कि जहाँ तक चाहता है बहा ले जाता है और पाठक हिप्नोटिज्म की स्थिति में उसके साथ बहता चला जाता है। ज़ाहिर है जब लेखक अपने पाठक को जादू की इस हद तक अपनी पकड़ में ले लेता है तो कौन सा पाठक है जो बच सके? चुनाँचे कृष्ण चन्द्र की होशियारी यह है कि वह पाठक को फूलों भरी घाटी में ले जाकर उसे एक काँटा भी चुभो देता है। झरनों और आबशारों में ले जाकर उसे दिखाता है कि आबशारों पर पुलिस का पहरा भी है। एक गरीब कश्मीरी लड़की के सौंदर्य में पाठक को गुम करके एक-दम उसे झटका दे देता है कि वह जागीरदार की रात की शराब की काया को साफ कर रही है। और बस यही कृष्णचन्द्र का वह आर्ट है जो पाठक को सौंदर्य और वास्तविकता दोनों की चेतना देता है और उसे यह सोचने पर मजबूर कर देता है कि इस सौंदर्य का लुत्फ उठाना चाहते हो तो पहले वास्तविकता की गंदगियाँ साफ कर लो।

कुछ लोग नाक-भौं चढ़ाकर कहते है, "ऊँह! कृष्ण चन्द्र कोई लेखक थोड़े है; वह तो जर्नलिस्ट है, नारेबाज़ है। वह तो कलम-घसीट है। वह तो इतना ज्यादा लिखता है कि उसकी कलात्मक गिरावट शुरू हो चुकी है।"

मगर मैं उसके पक्ष में एक फिकरा कहूँगा। कृष्ण चन्द्र के कलम में वह ईमानदारी झलकती है, जो किसी आदर्श की मौलिक आवश्यकता होती है।

आज कृष्ण चन्द्र का साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय हैसियत प्राप्त कर चुका है। कोई और कलाकार होता तो गौरव से अति भोंडा हो जाता। मगर कृष्ण चन्द्र में यह शक्ति है कि वह गौरव को इस सुंदरता से अपने मसामों में समो लेता है कि किसी मसाम से फूटता दिखाई नहीं देता।

वह आज भी एक प्रिय इन्सान है। मिजाज का सादा है। प्रसिद्धि ने उसके मिजाज को बिगड़ने नहीं दिया, यद्यपि उसे आज

भी नफीस श्रौर स्वादिष्ट खाना खाने का चाव है। उसने "साहित्यक गुरुड़म" चलाने के लिए दाढ़ी नहीं रख ली, बल्कि प्रायः साधारण मनुष्यों की तरह शेव करता है। उसके पहनावे में रेशम-अतलस दाखिल नहीं हुए बल्कि वही कमीज-पतलून उसकी साथी है। दोस्तों में बैठकर कभी-कभी व्हिस्की पी लेता है, लेकिन इतनी नहीं की आकाश को छू ले। दोस्तों में बैठकर वह अपनी विशेष झेंपती हुई मुस्कराहट से बेरोक-टोक बातचीत करता है। बच्चों की सी ललचाई हुई तोतली आवाज में माँग करता है, कि यारों कोई अच्छा सा शेर सुनाओ! अच्छे शेर पर झूम उठता हैं, शेर पसंद न आए तो चुप रहता है। प्रतिहिंसक लोगों की तरह उसकी निंदा करने नहीं बैठ जाता। लेखन में जितना भावुक है, बातचीत में उतना ही संतुलित रहता है। अपने विरोधियों का वर्णन बड़े आदर से करता है, मगर विरोधियों से साथ विचारों के धरातल पर आकर समझौता नहीं करता। यही वजह है कि उसके जितने विरोधी बने हैं, वह उसकी वजह से नहीं, उसके लेखन की वजह से।

कृष्ण चन्द्र को फिल्मी जीवन कभी रास न आया। फिल्म वाले उसे एक असफल फिल्मी लेखक कहते हैं, और कृष्ण चन्द्र को इस बात पर गर्व है कि वो "सफल" फिल्म नहीं बना सका। बात साफ है कि वह साधारण जीवन में तो समझौता शायद कर भी ले, मगर साहित्य और कला के मैदान में समझौता नहीं कर सकता, और फिल्म वालों की नींव हमेशा इसी दूसरी किस्म के समझौते पर रखी जाती है।

—और इसी वजह से ठिगने कृष्णचन्द्र का कलात्मक कद और भी बढ़ गया है...।

सतीश गुजराल

"—मैं नाक नहीं बनाता, कान नहीं, बाजू नहीं, बल्कि मनुष्य की अंतरात्मा का चित्र बनाता हूँ..."

सतीश गुजराल

एक मासूम बच्चे की तरह खुला हुआ मुंह और एक इन्टैलक्चुअल तरह चौड़ी-चकली पेशानी—यह है सतीश गुजराल, सेलाब की तरह चढ़ती हुई महानता का स्वामी—एक मुसव्विर, एक चित्रकार और पेन्टिग की दुनिया का फिरदौसी। मैंने उसे फिरदौसी इसलिए कहा है कि यदि वह चित्रकार न होता तो हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा कवि होता। कवि जो वीर रस की एक बहुत बड़ी कविता लेखनीबद्ध करता और उसमें क्रोध के ताप और ग़म की घुलावट को यूं समो देता कि हिन्दुस्तान का बच्चा-बच्चा बेकरार होकर कह उठता, "यह मेरी कहानी है, सतीश ! तुमने कहाँ से सुनी ? तुम मुझे कैसे जानते हो ?"

यह सन १९४८ की बात है। पंजाब सरकार जो अंग्रेज-सरकार से अभी-अभी आजाद हुई थी, के पब्लिसिटी-डिपार्टमेन्ट के दफ्तर में आते-जाते मैं हर दिन बरामदे में एक छोटे से कद के नौजवान को देखा करता था जो एक ऊँची मेज के पास बैठा पेन्सिल, ब्रुश और रँग से कुछ लकीरे खींचता रहता था। उन दिनों साम्प्रदायिक झगड़ों ने हम साहित्यकारों के मस्तिष्क पागल कर रखे थे। हमें क्रोध था, हम एक गलीज़ अंधेरे में हाथ-पाँव मार रहे थे और चाहते थे कि कहीं से उजाले की किरणें कुरेद लाएँ ताकि मानवी रक्तपात ने जिस गाढ़े-गाढ़े अंधकार को जन्म दिया है उसमें से बाहर निकल जाएँ। चुनांचे हम कुछ साहित्यकार एक सप्ताहिक पत्र निकालने का प्रोग्राम बना रहे थे और चाहते थे कि अपने पत्र में ऐसे चित्र, पेन्टिग और खाके

पेश करें जिसमें उस भयँकरता को उभारें, जिसने हमारे सब आचारिक मूल्यों को नष्ट कर दिया है। वह चेहरे पेश करें, जिन्होंने अपने आपको अपने हाथ से बिगाड़ लिया है। लकीरों और रंगों के द्वारा उन्हें लज्जित करें, उन्हें बताएँ कि मनुष्य इतना छोटा घिनौना, इतना निरर्थक नहीं है कि मनुष्य के बच्चे और बकरी के बच्चे के माँस को बराबर स्वादिष्ट समझ लें।

एक पब्लिसिटी अफसर ने मुझे बताया कि तुम सतीश गुजराल से मिलो। इस विषय में वह तुम्हारी सहायता करेगा।

मैंने मुंह बनाकर कहा, "सरकार का कर्मचारी है, वह हमारा साथ कहाँ दे सकता है ?" उन दिनों सरकार के शब्द पर मुंह बनाना हमारे क्रान्तिकारी भावों को प्रकट करता था। हमारा विचार था कि फ़सादों के रक्त में काँग्रेस सरकार का हाथ भी उतना ही भरा हुआ है, जितना अंग्रेज़ सरकार का। इसलिए हमने सतीश गुजराल से मिलना आवश्यक न समझा।

लेकिन इसके बावजूद जब भी मैं उस बरामदे में से गुज़रता तो सतीश को देखते ही मेरे कदम रुक जाते। न जाने क्यों उसे जब उँगलियों में ब्रुश पकड़े देखता तो उन उँगलियों में एक मादक शक्ति और विश्वास सा अनुभव होता। यूं लगता कि ब्रुश हिलाते हुए उसके होंठ भी भिंच जाते और उसकी लाइनें दूर से यूँ दिखाई देतीं जैसे वह पत्थर पर लकीर खींच रहा हो, और कह रहा हो, "यह अमर है, अमिट है, इसे कोई मिटाकर दिखाए।"

और जब इसके दस वर्ष बाद मैंने उसका एक चित्र देखा "पन्डित नेहरू" देखा तो मुझे सतीश गुजराल की वही उँगलियाँ याद आ गईं, जो अमिट लकीरें खींचती थीं। अमिट से मेरा मतलब रँगों की चिर-कालिकता नहीं, बल्कि उन भावों की चिरकालिकता थी जो पन्डित नेहरू का चित्र बनाने से पहले चित्रकार के हृदय और मस्तिष्क में मौजूद थे; जो अमिट थे, जिन्हें चित्रकार के दिमाग से कोई नहीं मिटा सकता

और न चित्र में से उभरती हुई उस अंतरात्मा के संघर्ष को मिटा सकता है, जो पन्डित नेहरू के अंदर वर्षों से मौजूद है और जिसे चित्रकार की पैनी दृष्टि ने भाँप लिया और उसे रँग, ब्रुश और लकीरों के द्वारा बाहर निकाल लाया।

"मैं नाक नहीं बनाता, कान नहीं, बाजू नहीं, बल्कि मनुष्य की अंतरात्मा का चित्र बनाता हूँ"—सतीश कहता है, "मैंने पन्डित नेहरू की अंतरात्मा को भी अनुभव किया है और एक महान नेता, एक प्रधान मंत्री के अंदर मैंने एक ऐसा मनुष्य पाया है जो एकाकीपन अनुभव करता है। एकाकीपन किस चीज का? दृष्टिकोण और विचारों का, उस भाव का एकाकीपन जिसे कोई समझ नहीं पाता। यह एकाकीपन लंबा हो गया है। यही एकाकीपन पंडित नेहरू को उदास कर रहा है, और वह इस एकाकीपन को दूर करने के लिए एक अत्यंत तीव्र संघर्ष कर रहा है। एकाकीपन का ग़म और उदासी दूर करने का संघर्ष—इन दो सच्चाइयों का नाम पन्डित नेहरू है। पन्डित नेहरू अपनी आत्मा के अंदर बसी हुई इन दोनों वस्तुओं का नाम है।

"नाक और कान तो हर पेन्टर बना लेता है", वह कहता है, "मगर आत्मा को किसने पहचाना है? आत्मा जो अमिट है। आत्मा के अंदर अनुभवों की यह लकीर अमिट है, पत्थर पर लकीर है।" अतः मैं उन दिनों अधिक देर तक मुंह न बना सका और बेसाख्ता नवयुवक गुजराल के पास जा पहुँचा।

उसे जब मालूम हुआ कि मैं फ़िक्र तौसवीं हूँ तो वह बच्चों की सी बेसाख्ता प्रसन्नता से उछल पड़ा और अपने छोटे से कद से इतना ज्यादा ऊँचा हो गया कि मुझे अपनी क्रांतिकारी उच्चता अत्यंत छोटी अनुभव होने लगी। जब वह मुझे गले मिला तो मुझे उसके शरीर में नर्म-नर्म सादगी और भावनाओं की परिपूर्ण तीव्रता की सुगंध भी फूटती हुई प्रतीत हुई।

और फिर जब उसने एक कागज पर लिखकर मुझे बताया कि वह

कानों से बिल्कुल नहीं सुन सकता, तो खुद ही हँस पड़ा। "मैं ग्राँखों से सुनता हूं, ग्राँखों से पढ़ता हूँ, ग्राँखों से अनुभव करता हूं। मैं एक फैक्टरी के भोंपू की ग्रावाज नहीं सुन सकता, लेकिन इस भोंपू की बुलंदी ग्रौर गर्व को देखकर अनुभव कर सकता हूँ कि इसमें से कितने मजदूर मनष्यों की भावनाग्रों का धुग्राँ निकल रहा है।"

"यह तो क्रांतिकारी हैं।" मैंने सतीश के विषय में जो अनुमान लगाया था, उस पर लज्जित होते हुए सोचा। फिर मैंने उससे बातें शुरू कर दीं। वह बहुत बातें करता है। कम से कम उससे बातें करने वाले से पचास गुना अधिक। बहरे कानों की कमी वह बातों से पूरी कर लेता है। उसकी बातें अत्यधिक रोचक एवं प्रभावशाली हैं, क्योंकि उसका अध्ययन अत्यंत विस्तृत है ग्रौर उस अध्ययन में उसने मानव-मनोविज्ञान ग्रौर उसके दर्द को पूरी तरह अनुभव किया है, अपनी रग-रग में रचा लिया है। इसलिए जब वह बातें करता है तो उसे संबोधक की लघुवाचिता की कमी अनुभव नहीं होती। वह कई बार तो संबोधक की ग्राँखों, होठों, यहाँ तक कि उँगलियों के हिलने से ही उसके मुँह से अनकहा वाक्य भाँप जाता है ग्रौर ग्रापके दिल की बात का उत्तर दे देता है—ग्रौर मैं यह देखकर चकित हो गया कि उसकी बातों में ग्राकर्षण है, एक दृढ़ता है एक जँचा-तुला लहजा है। वह अत्यंत जंचे-तुले वाक्य बोलता है। उसकी बातों की एक व्यक्तिगत विशेषता उनकी तीव्रता है, एक क्रोध है जो उसे शैतानी ताकतों पर है। गलत को वह ठीक नहीं कहता वैसे ही जैसे ठीक बात पर वह एक ईमानदार संत की तरह डटा रहता है।

ग्रौर यही तीव्रता, क्रोध, ईमान ग्रौर दृढ़ता उसके चित्रों में है। जब उसने मेरे पत्र के टाइटल पेज के लिए चित्र बनाकर दिया जिसमें एक मनुष्य अपनी शक्ति, विस्तार, दर्द ग्रौर क्रोध, ग्रौर इसके बावजूद अटूट विश्वास के साथ उभारा गया था—तो मैं यह देखकर हैरान हो गया कि यह उस काल के मनुष्य का पूर्ण चित्र था, जो अत्याचार के

विरुद्ध एक दृढ़ चट्टान, निर्दोषों के रक्त पर पीड़ा-ग्रस्त और सत्यता की अटूट नम्रता और गंभीरता और महानता में रचा हुआ खड़ा था।

ठिगने मगर ठोस शरीर का सतीश गुजराल जेहलम (वर्तमान पाकिस्तान) में उत्पन्न हुआ। उसके पिता महोदय एक वकील थे। कहाँ वकील जो भावनाओं से वंचित होते हैं और कहाँ कलाकर पुत्र जो मनुष्य के दुःख पर मछली की तरह तड़प उठता है। वह बाल्यकाल से ही अपनी श्रवण-शक्ति प्रकृति को वापिस कर चुका था। बहरेपन के एहसास ने उसे कितना मानसिक आघात पहुँचाया होगा, इसका अनुमान कोई नहीं कर सकता, लेकिन प्रकृति ने उसके बहरे कान में कहा, 'मैं तुमसे श्रवणशक्ति लेकर अनुभव शक्ति देती हूँ।' चुनाँचे सतीश ने प्रकृति की इस नई देन को हँस कर स्वीकार किया। जब वह अपना खोह जैसा मुंह खोलता है तो मुझे हमेशा यूं लगता है, जैसे वह बहुत गहरी खोह है, बहुत लंबी, बहुत दूर तक चली गई है और इस खोह के अंत पर भावों का एक सागर ठाठें मार रहा है।

सतीश ने प्रकृति की इस देन अर्थात कला को न केवल अपने वांचित्य के प्रकटीकरण का साधन बनाया, बल्कि सन्सार से वांचित्य के प्रकटीकरण का साधन बना लिया। उसने मेऊ स्कूल ऑफ आर्ट्स में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की और उसके पश्चात जे० जे० स्कूल आफ आर्ट्स बंबई में अपनी कला को उन्नत करता रहा, यद्यपि वह उस समय तक अखिल भारतीय प्रसिद्धता भी प्राप्त नहीं कर सका था, लेकिन जब वह मैक्सिको के सर्वोच्च कलाकार डेविड अलफ़रो के साथ काम करने लगा तो यूरोप और अमरीका में तहलका मच गया। डेविड अलफ़रों ने उसके बारे में लिखा है, "वह अत्यधिक शक्ति और सामाजिक यथार्थ का ज्ञाता है।"

और जैसा कि हमारे हिन्दुस्तान में आम रिवाज है सतीश गुजराल को बाद में हिन्दुस्तान ने भी स्वीकार कर लिया। हम हिन्दुस्तानी प्रायः दूसरों की दृष्टि से अपनी महानता स्वीकार करते रहे हैं। टैगोर

को ही देख लीजिए।

"आप किस स्कूल ऑफ आर्ट से संबंध रखते हैं ?" आप सतीश गुजराल से प्रश्न करें तो उसकी काली मूछों में एक तनाव आ जाएगा; पेशानी की लकीरें खिंच जाएँगी और वह कहेगा, "आर्ट मेरे अंदर मौजूद है, बाहर से नहीं आया, आर्ट कभी बाहर से नहीं आता।"

वह इस बात का सख्ती से समर्थक है कि हमारे यहाँ के कलाकार प्रायः कला के कुछ घड़े-घड़ाए नियमों के अनुसार पेन्टिंग करते हैं। वह नियमों के भिखारी हैं। काश ! वे स्वयं भी अनुभव कर सकते कि किसी घटना, किसी मनुष्य, किसी समाज के संबंध में उनके अपने अंदर कौन सी लकीरें उभरती हैं, कौन से रँग पैदा होते हैं। यदि चित्र चित्राकार के अंदर पूर्ण नहीं होता तो चाहे वह प्रकट रूप से लाख किसी चित्र को पूर्ण कर ले, वह चित्रकार की अपनी आवाज नहीं होगी।

"मगर यह आंतरिक रँग और लकीरें आपके यहाँ कैसे पैदा होती हैं?"

"बाहरी सामाजिक यथार्थ मेरे अंदर घुस जाता है।"

हिन्दुस्तान में वापिस आकर उसने चित्रकला के एक पहलू पर नए दृष्टिकोण से ध्यान दिया—अर्थात मनुष्य के पोर्टरेट। इससे पहले चित्रकारों में यह आम रिवाज था कि वह पोर्टरेट को रँगो और वातावरण से अधिक से अधिक आकर्षक बनाने की कोशिश करते। लेकिन सतीश ने कहा—"मनुष्य के खिले हुए चेहरे के पीछे क्या है ? उसे पहचानो, उसे पेन्ट करो, यही यथार्थ पोर्टरेट है। बाकी झूठ है।"

चुनाँचे उसने हिन्दुस्तान के कई महान व्यक्तियों के पोर्टरेट बनाए। पन्डित नेहरू, इंदरा गाँधी, कृष्णा मेनन, मौलाना आजाद और लाला लाजपतराय के।

सतीश ने कहा, "इन मानवी चित्रों के पीछे का मानव ही वास्तविक मानव है, जो मेरे रँग और लकीर के साथ उभरा है। मैंने लाला लाजपतराय को पगड़ी और सीधे-सीधे पँजाबी बिज़नसमैन के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसके पीछे छिपी हुई शक्ति और उसके आत्म-

विश्वास को देखा है, और वही वास्तविक लाला लाजपतराय है।"

एक बार मेरे एक मित्र ने हँसी-मज़ाक में सतीश से कहा, "मान लो तुम्हारे पास एक अति सुंदर आधुनिक स्त्री अपना पोर्टरेट बनवाने आती है। यदि वह तुम्हारे बनाए हुए पोर्टरेट में देखे कि उसकी नाक मुड़ी-तुड़ी है, होंट फटे हुए हैं और गाल किसी कटी-फटी जमीन की तरह हैं, तो वह रो देगी।"

सतीश ने मुस्कराकर कहा, "अगर उसे खुश होना है तो उसे चाहिए कि किसी फोटोग्राफर से अपना फोटो खिंचवा ले। सतीश गुजराल को रँगों के प्रयोग की विधि आती हैं। रँग से वह भाव उतारता है, वातावरण उत्पन्न करता है। उसे मनुष्य और ज़मीन से प्यार है। इसलिए जब वह पोर्टरेट बनाता है तो उसमें खिड़की, छाया, रोशनी पैदा करता है, ताकि यह महसूस हो कि पोर्टरेट जमीन का है, मनुष्य का है, किसी देवता का नहीं है।" यही कारण है कि वह हिन्दुस्तानी जीवन की सत्यता का कलाकार है; इसलिए बड़ा चित्रकार है, अमर चित्रकार है।

सतीश की एक बड़ी प्यारी-प्यारी सी पत्नी भी है, जो साधारणतया उसके साथ होती है। उसकी पत्नी बुद्धिमान है, कला की मतवाली है। कला और साहित्य का गंभीर ज्ञान रखती है। यूं लगता है उसकी पत्नी उसकी इच्छाओं की छाया है, उसकी आत्मा का पोर्टरेट है और जिसे स्वयं सतीश ने ही अपने ब्रुश से बनाया है और उन दोनों को देखकर अचानक विचार आता है कि सतीश गुजराल भी एक खुदा है, जिसने अपने ब्राह्मांड की स्वयं रचना की है—और खुदा शायद आस्मान पर बैठा हुआ यह सोच रहा होगा कि वास्तविक चित्रकार मैं हूँ या सतीश गुजराल।

◈

पृथ्वीराज कपूर

"—यदि आपके बच्चे का मुंडन है तो पृथ्वीराज को दावत दीजिए। वह हुमकता हुआ आएगा, आपके बच्चे को आशीर्वाद देगा, आपको भी उपदेश देगा...।"

पृथ्वीराज कपूर

एक दिन पृथ्वीराज कपूर के बेटे राज किशन कपूर ने मास्को की एक सभा में एक राजनीति संबंधी व्याख्यान देते हुये कहा—"मेरे पिता श्री पृथ्वीराज जी कपूर आजकल भारतीय सन्सद के सदस्य हैं और संभव है कि उन्हें शीघ्र ही भारत का प्रधान मंत्री बनना पड़ जाय।"

इस व्याख्यान के शब्दों की स्याही ज्यूँही शुष्क होने लगी कि देहली से एक और सरकारी घोषणा प्रसारित हुई कि राज्य सभा के कलाकार संसद-सदस्य श्री पृथ्वीराजा कपूर को आने वाली टर्म में दुबारा सन्सद का सदस्य नहीं चुना जा रहा। (सावधानता पूर्वक अर्ज़ है)।

पहला बयान एक अभिनेता पुत्र का था, जो उसने एक अभिनेता पिता के संबंध में दिया था। दूसरा बयान किसी अभिनेता की ओर से नहीं था बल्कि राजनैतिक था, इसलिए पहले बयान को काटता हुआ निकल गया। राजनीति में अभिनय नहीं चलता, अगर चलता भी है तो एक टर्म से ज्यादा नहीं।

लेकिन राजकपूर के बयान में भी कोई विशेष त्रुटि नहीं थी, सिवाय इसके कि वह पिता की मुहब्बत से चूर बयान था, एक अत्यंत स्वाभाविक बयान था, क्योंकि वह एक अभिनेता का बयान था। यदि वह ऐसा बयान न देता तो हम कहते—"राजकपूर अच्छा अभिनेता नहीं है।"

एक्टर अपनी फिल्मों में बादशाह बन सकता है, सेनापति बन सकता है, प्रधान मंत्री बन सकता है और सफलता-पूर्वक बन सकता जैसा कि पृथ्वीराज ने बनकर दिखा भी दिया; बल्कि पृथ्वीराज तो एक्टिंग में इस हद तक डूबा हुआ है कि वह अपने दैनिक जीवन में भी एक्टिंग करना नहीं छोड़ता। आप उससे कभी मिलें, उसके साथ दो-चार मिनट बैठकर बातें करें तो आपको यूँ लगेगा जैसे वह आपसे बातें नहीं कर रहा, बल्कि किसी फिल्म में पार्ट कर रहा है। उदाहरण के लिए आप उससे पूछें कि दीवान साहब आपके ख़याल में कौन सी सब्जी अधिक स्वादिष्ट होती है ? तो वह सबसे पहले अपने कंधे उचकाएगा, अपने सिर को दाएँ-बाएँ तेज़ी से लहराएगा, अपने मान्सल और लंबे बाजूओं को जोर-जोर से झुलाएगा और मुट्ठियाँ बाँधकर भिंचे हुये दाँतों से कहेगा, "माबूलो-तको, सौल-पासन, नहीं ओइया, हिजा मुस्तकें बग़ैर, दगा" (अर्थात मा-बदौलत को सवाल पसंद नहीं आया, लिहाज़ा हम तुमको कैद कर देगा !) कुछ लोग इसे ओवर-एक्टिंग कहकर पृथ्वीराज से बदला लेते है, परंतु वास्तविकता यह है कि पृथ्वीराज एक्शन का एक्टर है; इसलिए वह शब्दों को अपने दाँतों में भींच लेता है, और अपने तमाम अँगों को इस तरह के मोड़ और पेंच देता है कि वह स्वमेव शब्दों का आकार बन जाता है और शब्द न समझ में आने के बावजूद डॉयलाग समझ में आ जाता है, और उनसे जो प्रभाव पैदा होता, वह वही होता है जिसे पृथ्वीराज पैदा करना चाहता है।

फिल्म में भी और साधारण ज़ीवन में भी पृथ्वीराज इसी एक्टिंग या ओवर-एक्टिंग से काम लेता है। इसलिए वह दोनों जगह सफल है; और उसकी सफलता से उसके शत्रु भी इन्कार करने का साहस नहीं कर सके।

पृथ्वीराज कपूर—जिसे आप पृथ्वी थियेटर के गेट पर दान की झोली फैलाए श्रद्धा और नम्रता से सर झुकाए खद्दर का सादा और सफेद वेश धारण किए खड़े देखते है; वह किसी जमाने में लाहौर के

मशहूर स्टैंडर्ड कालिज का एक शोख और खिलन्डरा विद्यार्थी था और प्रसिद्ध एक्टर जगदीश सेठी की लीडर-शिप में सारे कालिज की नाक में दम किए रहता था। कहते हैं इस लंबे-तगड़े ग्रान्डील सरहदी नौजवान ने विद्यार्थियों के साथ ग्रांदोलन में भी भाग लिया था। उसमें ऐडवैन्चर करने की स्पिरिट थी। इसलिए वह कालिज के हर फंक्शन में ग्रागे बढ़ा हुग्रा दिखाई देता। एक तो डीलडौल से ही व्यक्तित्व क़यामत ढा देता था, ग्रौर उस पर बातचीत के ढँग में एक्टिंग का समावेश ! चुनाँचे वह एकदम छा जाता। कई लड़के तो कानाफूसी में यहाँ तक कह देते, "यह लड़का नैपोलियन की सी खूबी रखता है, ग्रतः इसकी लीडरी प्रमाणित है।"

मगर वह नैपोलियन न बन सका, बल्कि फिल्मों का हीरो बन गया। बात एक ही है। इम्पीरियल फिल्म कम्पनी वाले उसे बंबई ले गए। यह ख़ामोश फिल्मों का युग था। ख़ामोशफि ल्मों मेंचूँकि ग्रँगों की गतिविधि की ही ग्रावश्यकता होती हैं, इसलिये वह डायरेक्टरों में सर्व-प्रिय हो गया, परंतु इसके साथ ही पृथ्वीराज को यह गर्व भी प्राप्त है कि जब हिन्दुस्तान की सबसे पहली टॉकी फिल्म "ग्रालमग्रारा" बनाई गई तो उसे उसमें भी महत्वपूर्ण रोल दिया गया। इस प्रकार पृथ्वीराज हमारी फिल्म उद्योग के पहले बोलते-चालते पात्रों में से एक है। भगवान ने उसे थियेट्रीकल स्वभाव दिया था इसलिए प्रारंभिक फिल्मों में उसकी धाक जम गई। उस वक़्त तक फिल्म टैक्नीक थियेटर के प्रभाव की पकड़ में थी।

ग्रौर जब फिल्म इस पकड़ से निकली तो पृथ्वीराज की पकड़ भी फिल्मों पर ढीली पड़ गई ग्रौर उसकी माँग कम होने लगी। ग्राखिर बोर होकर उसने ग्रपना पृथ्वी थियेटर स्थापित कर लिया क्योंकि वह थियेटर की सेवा के लिए पैदा हुग्रा था। ग्रगर वह फिल्मी टैक्नीक की कोमलता ग्रौर चंचलता का साथ दे सकता तो शायद यह देश का दुर्भाग्य होता क्योंकि पृथ्वीराज ने ग्रपने थियेटर के द्वारा रँगमंचीय

ड्रामों को जो नया जीवन प्रदान किया है, उससे देश वंचित रह जाता। पृथ्वीराज की यह कमजोरी देश की शक्ति बन गई और मानना पड़ेगा कि अपना थियेटर लेकर नगर-नगर घूमने वाला यह देश-सेवक मस्त वह काम कर गया जो बड़े-बड़े लीडरों के बस में भी नहीं था। उसके रँगमंचीय ड्रामे—दीवार, पठान, पैसा, गद्दार—कुछ महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर उठे और समाज और देश को झिझोड़ते चले गए।

कहते हैं इन ड्रामो में पृथ्वीराज अपने को सबसे अधिक उभारकर लाता है और शायद यह ठीक है। मगर क्या किया जाय कि पृथ्वीराज को अपने निजत्व का कुछ ज्यादा बोध है। उसके स्वभाव में उच्चता है। लीडर रहना उसका स्वभाव है। वह जानता है कि वह लीडर है, हीरो हैं, सिकंदर हैं, नैपोलियन है, परिवार का हैड है। इसलिए वह ही हुक्म चलाएगा और यदि अपने बड़प्पन को नहीं उभारेगा तो हुक्म कैसे चलाएगा? उसकी बात कौन मानेगा? और अगर कोई उसकी बात नहीं मानेगा तो इस देश का क्या बनेगा? उन आदर्शों का क्या बनेगा, जिसे लेकर वह पैदा हुआ था?

अतः अपना बड़प्पन स्थापित रखने के लिए वह काफी दूर आगे चला जाता है। (क्या काफी दूर आगे जाने को ओवर-एक्टिंग कहना ठीक है?)

एक बार एक जर्नलिस्ट नेउस से पूछा, राज कपूर को कामयाब हीरो बनाने में आपका बड़ा हाथ हैं।"

पृथ्वीराज ने—कंधे झटकाए और सिर को लहराते हुए कहा, "ऊँह यह ग़लत है, वह लड़का अपने बाहुबल से आगे आया है।"

"नहीं आप तकल्लुफ से काम ले रहे हैं, या बड़े आदमियों की सी नम्रता से, वर्ना आपके बिना राजकपूर को कोई न पूछता।"

इस पर पृथ्वीराज मुस्कराया नहीं, हालाँकि यह बात सुनकर खुश हो चुका था, क्योंकि उसकी उच्चता मानी जा चुकी थी। लेकिन उस में यह कमाल की विशेषता मौजूद है कि वह हर किस्म का पार्ट अदा कर सकता है। जैसा पार्ट हो वैसी एक्टिंग करना उसका स्वभाव है।

अतः यह बात सुनकर भी अपनी खुशी छिपाने में सफल हो गया (क्योंकि यहीं उसका अपना चरित्र था) और जर्नलिस्ट के कंधे को बाप की तरह थपथपाते हुए बोला—"बरखुरदार अभी नौजवान हो, कच्चे हो, खैर कोई हर्ज नहीं, तुम्हें जल्दी ही सूझबूझ आ जाएगी। कभी-कभी मिला करो मुझ से !"

सफल अभिनय वह स्वयं ही नहीं करता बल्कि अपने सारे स्टाफ़ से भी करवाता है। चुनाँचे पृथ्वी थियेटर से जो अभिनेता चले जाते हैं, उन्हें पृथ्वी थियेटर की तरफ से हर मास एक रुपये का मनीआर्डर भिजवा दिया जाता है।

"आपकी सेवा के लिए यह एक तुच्छ सी भेंट हाज़िर है।"

राजकपूर से पूछिये तो वह कह देगा, 'हाँ ! मुझे आज भी हर मास एक रुपये का मनीआर्डर प्राप्त हो जाता है।'

एक्टिंग करने का एक और उदाहरण बेहद रोचक है। पृथ्वी थियेटर के स्टाफ के हर सदस्य को एक ही दिन एक साथ चैक काटकर तनख्वाह मिला करती थी और वह एक ही दिन एक ही समय में एक ही बैंक में चैक भुनाने जा पहुँचते थे और सारे बैंक में हलचल मच जाती। आवाजें आतीं—

"अरे भाई ये कौन लोग आए हैं ?"

"वाह ! आप नहीं जानते ! यह पृथ्वी थियेटर के लोग हैं। तनख्वाह के चैक भुनाने आए हैं।"

अर्थात पृथ्वीराज ने सच्चे अभिनय से अपने व्यक्तित्व और अपनी कला का निर्माण किया और यों उन्नति के शिखर पर जा पहुँचा। उसने उन फिल्मों में एक्टिंग की, जिन्होंने प्रथम कोटि में स्थान पाया और भारत के निर्माण करने में हाथ बटाया, और यह देश और समाज को पृथ्वीराज की देन है। उसे इन से प्रसिद्धि भी मिली, रुपया भी मिला, पार्लियामैन्ट की मेंबरी भी मिली और एक ऐसा परिवार भी मिला जो आज तक फिल्म-जगत की सेवा कर रहा है। राजकपूर इसका

जीवित प्रमाण हैं। (याद राखिए वह अपने परिवार का भी लीडर है। एक आदरणीय पिता, एक महरबान हाकिम और एक अटूट शक्ति)।

लेकिन वह सिर्फ एक कलाकार ही नहीं बल्कि एक बेहद सफल सामाजिक मनुष्य भी है। यदि आपके बच्चे का मुंडन है तो पृथ्वीराज को दावत दीजिए, वह हुमकता हुआ आएगा, आपके बच्चे को आशीर्वाद देगा, आपको भी उपदेश देगा। हरेक से घुल-मिलकर बात करेगा। बेतकुल्लफी से तकल्लुफ प्रगट करेगा; मगर कुछ ऐसे कि आपको इतने बड़े आदमी की नम्रता पर प्यार आए बिना नही रहेगा। वह सामाजिक समस्याओं के लिए, राजनीतिक पीड़ितों के लिए आगे बढ़-बढ़कर चंदे इकट्ठे करेगा, भाषण देगा, अपना भारी-भरकम शरीर विनय से झुकाकर आपसे अपील करेगा। खुला कुर्ता, तँग पाजामा, शरीर पर बंगाली लीडरों की तरह चादर लपेटे आप से कहेगा, "अपनी श्रद्धा से जो कुछ सेवा कर सकते हैं कर दीजिए, क्योंकि भारत देश आपसे बलिदान माँगता है?"

और अगर किसी स्तर पर कोई शरारती इन्सान उसकी कमजोरी पर हमला कर दे तो वह मुस्कराकर अपने कंधे झटका देगा और कहेगा—"मैं अपना दोष मान लेता हूँ। आप जैसा चाहेंगे वैसा ही होगा।" और यह विधि किसी के दिल को हरने के लिए काफी होती है।

पृथ्वीराज एक पठान है; परंतु थोड़े से सन्शोधन के साथ। आप उसे हिंदु पठान कह सकते हैं। मैं नहीं जानता कि वह पठानों की तरह इरादे का पक्का और वचन का स्पष्टवादी है कि नहीं। शायद कोई भी नहीं जानता, शायद स्वयं पृथ्वीराज भी नहीं जानता, क्योंकि फिल्मी वातावरण नख से शिख तक बनावट में लिथड़ा हुआ है। यहाँ सफलता का रहस्य सफल बनावट है। हम शायद यह अफसोस तो करें कि इस बनावटी वातावरण ने हमारे एक पठान युवक को भी क्यों लपेट लिया, लेकिन हमें यह प्रसन्नता भी है कि पृथ्वीराज ने हमें बहुत

से फिल्मीक लाकार तैयार करके दिए। आज फिलमी सन्सार के कितने ही कलाकार पृथ्वी थियेटर का दूध पीकर जवान हुए हैं, कितने ही निर्देशक, संगीत-निर्देशक और एक्टर—रमेश सहगल, शंकर जयकिशन, राम गाँगोली, राजकपूर, इंद्रराज आनंद, शम्मीकपूर, सुबीराज,—यह सभी दान इसी हिंदु पठान ने फिल्म को दिए। इस दान को आप बलिदान कह लीजिए कि उसने इतने अच्छे कलाकार फिल्म को देकर अपने थियेटर का बलिदान दे दिया, अर्थात थियेटर बंद हो गया। (वास्तव में बलिदान का आकार कोई भी हो, बलिदान करना पठान का शेवा है)।

परंतु इस हिंदु पठान ने, एक और कारनामा भी किया। वह पहला मनुष्य हैं जिससे फिल्म प्रोड्यूसरों को कलाकारों का आदर करने पर विवश कर दिया। फिल्म प्रोड्यूसर कलाकरों को साधारण से मासिक वेतन पर नौकर रखते थे, लेकिन पृथ्वीराज के अंदर बैठा हुआ हिंदु पठान अकड़ गया। उसने फिल्म प्रोड्यूसरों से कहा, "तनख्वाह नहीं—पूरी फिल्म के कान्ट्रैक्ट का सिस्टम चलाओ, ताकि कलाकारों की लूट-खसूट बंद हो जाए।" चुनाँचे इसने पहली बार एक फिलम में पाँच सौ रुपया रोजना पर कान्ट्रेक्ट करके एक नई रीति डाल दी। बाद में यह सिस्टम फिल्म कलाकारों में इतना सर्वप्रिय हुआ कि आज तक चालू है।

वह पैसे की तरफ से हिंदु है; इरादे की तरफ से पठान! इसलिए मैंने उसे कहा है कि वह हिंदु पठान है। मगर सिर्फ पैसे के मामले में ही हिंदु नहीं हैं बल्कि धर्म और शिक्षा के मामले में भी हिंदु हैं। वह जिसकी जटाओं से गँगा जी निकली थी, पृथ्वीराज उसका पुजारी है। दोस्तों में बैठा हो तो बड़ी श्रद्धा और बेतकुल्लफी से गीता के श्लोक पढ़ता है, उपनिषद और वेदों के मंत्र उच्चारण करता है। हर फिलम का उदघाटन पूजा-पाठ से करता है। परंतु इसके बावजूद वह कट्टरपंथी नहीं है, क्योंकि आधुनिक साहित्य पर उसे विशेष अधिकार प्राप्त हैं। बात-चीत में जगह-जगह शेक्सपियर और टैगोर के हवाले देता

है। सुनने वाला उसकी योग्यता से सहमत हो जाता है। बहुत तेज स्मरण-शक्ति का मालिक है इसलिए उत्तम पुस्तकों के उदाहरण दे देना उसके लिए अति सुगम हो जाता है और इससे बात करने वाले पर जो रोब पड़ जाता है वह है पृथ्वीराज का लाभ !

कुछ लोग कहते हैं कि उसका सारा रौब-दौब वास्तव में खोखलेपन को छिपाने की कोशिश है। (मगर क्या किया जाए ? पृथ्वीराज की सफलता ने द्वेषी भी तो पैदा कर दिए हैं)।

वह सबके सामने सिगरेट पीता है। रोमान्स करने में भी बुराई नहीं समझता; यद्यपि सुना है कि उसके रोमान्स की स्टेज पर भी आचार की नर्म-नर्म झालर तनी रहती है। वह अब इक्यावन वर्ष का हो चुका है। पचास वर्ष तक वो सूफी रहा, लेकिन इक्यावनवाँ वर्ष शुरु होते ही उसने शराब की हल्की-हल्की मस्त लहरों पर बहने का फैसला कर लिया। दोस्तों ने चौंक कर पूछा—"देवता, यह कैसे ?"

"स्वास्थ्य की रक्षा के लिए"—देवता ने कहा।

आजकल वह करीब-करीब रिटायर्ड लाइफ़ गुजार रहा है। यहाँ तक की पार्लियामेन्ट की मेंबरी से भी रिटायर हो चुका है। वह अपना रोल पूरा कर चुका। समाज को जो कुछ देना था दे चुका। थियेटर, कला, शार्गिद, कलाकार बेटे, नाटक के द्वारा जन-सेवा। फिल्म वाले अब इस सफेद बालों वाले पठान को बुक नहीं करते, क्योंकि फिल्म टैक्नीक पृथ्वीराज के जमाने से बहुत आगे बढ़ चुकी है। क्योंकि वह बुनियादी तौर पर नाटकीय विशेषताऐं रखता है; लेकिन यदि अब भी किसी फिल्म वाले को किसी बादशाह, किसी नैपोलियन, किसी विजेता, किसी सिकंदर, किसी सेनापति के पार्ट के लिए आवश्यकता पड़ती है तो वह पृथ्वीराज की तरफ ही देखता है, क्योंकि वह ऐसी ही एक्टिंग के लिए पैदा हुआ था।

राजकपूर ने जब मास्को में यह कहा था कि पृथ्वीराज भारत का प्रधान-मंत्री बन जाएगा तो यह उसके अनुमान की गलती थी। हालाँकि

पृथ्वीराज के बारे में अब भी यही कहना चाहिए कि यदि वह एक बार फिर पृथ्वी थियेटर को जिंदा कर दे तो वह भारत भर के पिछड़े हुए रँगमँच को गतिशील बना सकता है और कौन जाने पृथ्वीराज के अंदर बैठा हुआ पठान एक बार फिर इस बलिदान के लिये मैदान में आ जाय ? थियेटर का राज्य भी तो किसी प्रधान-मंत्री की प्रतिक्षा कर रहा है···!

नर्गिस

"—आज मैं खुश हूँ, बहुत ही खुश हूँ, क्योंकि मैं आज एक माँ हूँ। मेरा अपना एक घर है, मेरे पति हैं, मेरा नन्हा बच्चा है, मेरा जीवन आज पूर्ण है…।"

नर्गिस का पत्र मोहन बाबू के नाम

बंबई

माननीय बाबू जी,

कल रात मैंने एक स्वप्न देखा कि आप लाठी टेकते हुए मेरे कमरे में आए और तेजी से लाठी मेरे हाथ में थमा दी और यह कह कर तुरंत ओझल हो गए—"बेबी, लो यह लाठी, इसे संभालकर रखना, यह अब तुम्हारे जीवन का सहारा है, यह तुम्हारे सूनेपन को भर देगी।"

बाबू जी आपके ओझल होते ही मैंने लाठी को देखा, वह लाठी नहीं थी, बल्कि एक नन्हा बच्चा था, जो मेरी उँगली पकड़े हुए मुझे खींच रहा था; और कह रहा था—"ममी, आओ मैं तुम्हें स्टुडियो तक ले चलता हूँ। मेरे होते हुए तुम क्यों डरती हो ?"

पिता जी यह बात कहते समय आप कितने खुश थे, जैसे किसी के मन से मनों बोझ उतर जाय और वह गुब्बारे की तरह हल्का-फुलका और कोमल हो जाय, और हवा में उड़ानें भरने लगे। मैंने खुशी से झूमकर अपनी स्वप्निल आँखें खोल लीं और देखा कि नन्हा आपका फोटो हाथ में लिए मेरा कंधा हिला रहा है और कह रहा है—"ममी! यह किसका फोटो है ?"

"तुम्हारे स्वर्गीय नानाजी का बेटा।"

"नाना क्या होता है ममी ?"

मैं उसके भोलेपन पर मुस्करा दी और एकदम गंभीर हो गई। कितना गहरा सवाल किया नन्हे ने—"नाना क्या होता है ?" "कहाँ

से शुरू होता है ? क्यों शुरू होता है ? कहाँ-कहाँ चलता है; और कैसे चलता है ? और फिर चलते-चलते कहाँ रुक जाता है ? क्यों रुक जाता है ? और फिर जब उसका दोहता, उसके बारे में पूछता है तो वह जवाब क्यों नहीं देता···?"

पिता जी मैं इन तमाम सवालों का जवाब कैसे देती ? क्योंकि यह तो एक पूरा इतिहास था ।·· नाना क्या होता है ? वह एक पूरा इतिहास होता है । किसी समाज का, किसी सिस्टम का, किसी कुनबे का । किसी कुनबे का नाना होना कोई मज़ाक नहीं होता और विशेषकर नर्गिस के नन्हें का नाना होना । नन्हा तो नहीं जानता, मगर मैं तो जानती हूँ पिताजी कि नर्गिस में जो सौंदर्य है, जो आकर्षण है, जो सादापन है, जो रसिकता है, जो सूझ-बूझ है, ग़म सहने की जो शक्ति है और बड़ी-बड़ी आँखों में जो संतोष है—उसका स्रोत नन्हे का नाना मोहन बाबू है । "शक्ति का भन्डार तो मोहन बाबू है, मैं तो उसके भन्डार की केवल मामूली-सी भिखारिन हूँ, बेटा !"

बाबू जी आज मैं खुश हूँ क्योंकि आज मैं एक माँ हूँ ; मेरा अपना एक घर है, मेरे पति हैं, मेरा नन्हा बच्चा है, मेरा जीवन आज पूर्ण है । आज मुझे पहली बार अनुभव हो रहा है कि मैं एक साधारण स्त्री हूँ, वरना सन्सार ने तो मुझे हमेशा ऊँची पदवी पर बिठाए रखा । दुनिया ने मुझे नीचे धरती पर उतरने ही नहीं दिया । उसने मुझे देश की सबसे अच्छी हीरोइन कह दिया, मुझे हीरे-मोतियों में तोला—मुझे पद्म-श्री बनाया ! मुझे स्त्री की बजाय हिरनी बना दिया ! डाकखाने में हर तीसरा पत्र नर्गिस के नाम डाला जाता रहा···और मैं यह सब कुछ देख-देखकर कुढ़ती रही, कराहती रही । अपनी बेबसी पर सिसकती रही ।

मगर मेरी यह कराहटें किसी ने न सुनीं क्योंकि मैं यह सब कुछ नहीं चाहती थी, बिल्कुल नहीं चाहती थी । मैं नर्गिस नहीं कहलाना चाहती थी । न जाने किस निर्दयी ने मेरा नाम नर्गिस रख दिया । शायद

हज़ारों वर्ष तक रोने के लिए इकबाल ने यह पंक्ति मेरे लिए ही लिखी थी—

"हज़ारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है।"

आपको याद होगा कि जब पहले-पहल मुझे डायरेक्टर महबूब की फिल्म "तकदीर" में एक्टिंग करने के लिए कहा गया था तो मैं कई दिन तक रोती रही थी और पाँव पटकती रही थी; लेकिन माँ ने क्रोध में मेरी चमड़ी उधेड़ी थी। शायद वह अपनी प्यारी बेटी को समय की महान संगीतकार, उच्चकोटि की संगीतकार, प्रथम श्रेणी की हिरोइन और अद्वितीय तारिका बनाना चाहती थी। शायद वह सच्चाई पर थी, क्योंकि बाबू जी माँ के साथ भी सन्सार ने वही बर्ताव किया था जो मेरे साथ हुआ। शायद माँ अपना इतिहास दोहराना नहीं चाहती थी और सन्सार पर यह सिद्ध करना चाहती थी कि एक वेश्या की बेटी भी समाज की आदरणीय व्यक्ति बन सकती है—यानी इतिहास को बदल सकती है!

बाबू जी, अगर आज माँ होती तो वह देखती कि मैं आज पदम-श्री बन चुकी हूँ। समाज की सम्मानित पदवी मेरे पास है। लेकिन माँ को यह मालूम नहीं था कि बेटी के मन में क्या है? मैं एक मामूली गृहस्थिन बनकर रहना चाहती थी, क्योंकि खुशी इस बात में नहीं कि किसी का बैंक-बैलन्स कितना है, बँगले का फर्नीचर अमेरिका से आया है या रूस से। खुशी इसमें नहीं कि फोटोग्राफर किस के फोटो ज्यादा खींचते हैं। शायद माँ की खुशी इसमें थी, मगर मेरी खुशी का केंद्र कहीं और था। मेरी खुशी इसमें थी कि कब हवाई-जहाज से उतरकर मेरे पाँव धरती का अवलंब प्राप्त करते हैं।

और बाबू जी आज आखिर अट्ठाइस वर्ष के लंबे युद्ध के बाद सुनील के घर मुझे वह धरती मिल गई। अट्ठाइस वर्ष तक मेरी सादगी और दुनिया की बनावट में युद्ध होता रहा। आप तो जानते ही हैं सब कुछ कि यह जंग मैंने किस-किस फ्रन्ट पर लड़ी। कभी किसी

कप्तान के साथ, कभी किसी रईसज़ादे के साथ, कभी किसी ख़ानदानी एक्टर के साथ ! ···आप भी तो अपनी विशेष खामोशी, संतोष और धैर्य के साथ मेरी इस जंग में शामिल रहे। आपने इस जंगी या स्टन्ट फिल्म का एक-एक सीन अपनी आँखों से देखा। आप भी तो यही चाहते थे जो मैं चाहती थी। आप मुझ से कितनी मुहब्बत करते थे ! मेरी भावनाओं को हँस-हँसकर सहन किया। मैं भोली-भाली थी, मैं बच्ची थी, कदम-कदम पर ठोकर खाती थी, मगर फिर संभल-संभलकर उठती थी, और अपने छोटे से घर की पूर्ति के लिए फिर अपनी निष्कपटता के सहारे चल पड़ती थी। फ़िल्मी जिंदगी में जितनी कामयाब हीरोइन थी वास्तविक जिंदगी में उतनी ही असफल लड़की थी। मेरे लाखों इच्छुक, मेरी एक-एक अदा पर हफ्तों खाना-पीना भूल जाया करते थे, पर उन्हें क्या मालूम था कि मेरे अपने गले से निवाला तक नहीं उतरता था। मैं एक संतोष-जनक निवाले को तरस गई थी, मैं लाखों रुपये के जवाहरात को क्या चाटती ? मैं लाखों प्रशन्सक तालियों पर क्या नृत्य करने लगती, जब कि मैं जिंदगी के सिर्फ उस मामूली से क्षण को तरस गई थी, जब मुझे कोई माँ कह कर पुकारे ! क्या मेरे अत्यधिक सौंदर्य का मूल्य वह एक क्षण भी नहीं था, जिसके लिए मैं तरस रही थी ? मैं समझती थी मेरा तमाम सौंदर्य फ्रॉड है, नजर का धोखा है। उस सौंदर्य की बाजार में इतनी कीमत भी नहीं है कि उससे मैं कुछ एकड़ ऐसी जमीन ही खरीद सकूँ जिसे मैं अपना व अपने पति का नन्हा-सा घर कह सकूँ !

बाबू जी ! जब मैं यह खत लिख रही हूँ, आपका चित्र मेरे सामने मेज पर रखा है। कितना परिश्रम है इस चेहरे में। यही वह चेहरा था, जिसने मुहब्बत की खातिर पूरे समाज को ठुकरा दिया, पूरे भविष्य से आँखें मूंद लीं। लोग समझते थे मोहन बाबू कितना भाग्यशाली है, जिस पर जद्दनबाई जैसी विद्वान, सुंदरी जान छिड़कती है। जो नर्गिस जैसी सर्वप्रिय हीरोइन बेटी का जन्मदाता है। मगर बाबू जी

मैं ही जानती हूँ कि आप कितने अभाग्यशाली थे। जो बाप अपने हाथ से अपनी बेटी के हाथ पीले न कर सका, उसके दु:ख को सौभाग्य कह देना दुनिया की सबसे बड़ी कठोरता थी।

और बाबू जी यही हालत मेरी थी। बेटी को भी बाप के उत्तराधिकार में दोनों चीज़ें मिली—यश और दु:ख को सौभाग्य कहने वाली दुनिया! जालिमों ने मुझे जितना चढ़ाया, उतना ही रुलाया। वह मुझे स्टुडियो के सैट पर ले जाते तो प्रशन्सा के गुलाबों से सुगंधित कर देते, लेकिन पीठ पीछे मेरे विरुद्ध षडयंत्रों के जाल फैलाते और अति घृणा से मेरा जिक्र करते हुए कहते—"अरे वो तो एक वेश्या की बेटी है! सभ्य समाज में उसका क्या काम?"

मगर पिताजी, मेरी रगों में तो एक सभ्य बाप का रक्त प्रवाहित था। सामाजिक और राजनीतिक नेताओं ने मेरी माँ को "नाज़े-वतन" की उपाधि दी थी। इसलिए मैं कैसे सोचती कि समाज में मेरा कोई स्थान नहीं?…मैंने उन फिल्मों को उच्चता प्रदान की जिन्हें देखकर लाखों इन्सानों में देशभक्ति की चिन्गारी शोला बन गई। मैंने सभ्य समाज की सभ्यता और सन्स्कृति को चरित्र और कला की दलदलों में से निकालने के लिए खून-पसीना एक कर डाला। वह लोग जो सोसाइटी के बड़े-बड़े महंत बने फिरते थे, उनकी हालत पर मैंने दिन-रात आँसू बहाए। वो फिल्मों में तो कौम को ऊँचे चाल-चलन का उपदेश देते थे, मगर जिंदगी की फिल्म में बेहद नीचता दिखाते थे और बाबू जी अगर वो नीच चाल-चलन के न होते तो नर्गिस के सामने अपने खानदान की हेकड़ी न दिखाते। उस नर्गिस के सामने जिसका वो पानी भरते थे, मगर जिसे खिलौना समझकर अपने भौंडे खेल खेला करते थे। और पिता जी मैं यह सब कुछ देखती थी मगर मुँह से कुछ न कहती, बल्कि तकिये में मुँह छिपाकर सिसकियाँ भरने लगती। वह मुझे मनाते, मैं मान जाती। वे मुझे रुलाते, मैं रो देती। वह हँसते, मैं भी हँस देती। वह मुझे रास्ता दिखाते, मैं उसी

रास्ते पर हो लेती, वे मुझे रास्ते में भटका देते मैं भटक जाती। मैं बिल्कुल गालिब का यह शेर बनकर रह गई थी—

"चलता हूँ थोड़ी दूर हर इक राहरौ के साथ।
पहचानता नहीं हूँ अभी राहबर को मैं !"

सच तो यह है कि फिल्मों में एक्टिंग करने में मैं जितना कमाल रखती थी, उतना ही जिंदगी में मुझे अभिनय का क, ख, ग, तक नहीं आता था। क्या यही बात मेरी परंपरागत शराफत का लक्षण नहीं थी ? मैं सोचती हूं कि अगर मैं जिंदगी में भी अभिनय कर सकती तो फिल्मों में एक असफल हिरोइन कहलाती।

प्यारे बाबू जी ! फिल्मी जिंदगी छल-कपट के एक खूबसूरत जाल के सिवाय कुछ नहीं। यहाँ की मुस्कराहटें फरेब हैं, यहाँ की त्योरियाँ धोखा हैं। स्क्रीन के पीछे छिछोरी और सस्ती एक्टिंग का एक पूरा सन्सार बस रहा है। मेरी आत्मा तो बचपन से ही इससे बग़ावत करती थी। मुझे तो टैनिस का शौक था, पढ़ने-लिखने का चाव था, एक घरेलू पत्नी बनने की इच्छा थी, लेकिन परिवार की परिस्थितियों ने मुझे इस बनावटी अभिनय के सन्सार में झोंक दिया और मुझे गर्व है कि मैंने अभिनय कला को भी ऊँचाई पर पहुँचा दिया। कृत्रिम अभिनय मुझसे न जिंदगी में हो सका, न फिल्मों में। काश ! आप जिंदा होते तो मेरी फिल्म 'मदर इंडिया' देखते—जिसमें मैंने एक अबला और पीड़ित माँ के रोल को वह प्रभावात्मक तीव्रता प्रदान की, कि हिन्दुस्तान की तमाम माओं को एक आदर्श माँ बनने का रास्ता दिखा दिया। मुझे अल्हड़ और शोख़ नर्गिस समझने वाले मदर इण्डिया वाली माँ नर्गिस को देखें तो शायद उन्हे उस माँ में वास्तविक नर्गिस का रूप दिखाई दे जाय। बाबू जी, यही वह फिल्म है जिसमें सुनील ने मेरे साथ काम किया था और फिर अभिनय के उस आकाश पर बैठकर हम दोनों ने एक दूसरे को दिल दे दिया था। न जाने क्या बात थी कि सुनील की नजरों में मुझे उस सज्जनता और उच्च

सादगी की रोशनी दिखाई दी जो आप में थी, जो मुझ में है, और जो आने वाले उस समाज में होगी, जिसके लिए आप पचास साल लड़ते रहे, मैं अट्ठाइस साल लड़ती रही और सुनील को उम्र भर लड़ना है।

प्यारे बाबू जी, इस फिल्म की तैयारी के बीच में मुझे बार-बार अनुभव होता था कि मैं खुद 'मदर इंडिया' हूँ, भारत हम सब की माँ है, और मैं उस माँ का प्रतीक हूँ। मुझे यूँ लगता जैसे सभी हिन्दुस्तानी मेरे बेटे हैं। जब मेरे बेटे भूख से बिलखते हैं तो मैं उन्हें अपनी मिट्टी खिलाती हूँ; जब वह मुझ पर अत्याचार करते हैं तो मैं उन्हें माफ कर देती हूँ; जब वह मेरी खुशामद करते हैं तो मैं उन्हें डाँट देती हूँ; मगर मैं हर कीमत पर उनसे प्यार करती हूँ। उन्हें जिंदा रखने के लिए कशमकश करती हूँ, उनका हर दुःख अपना लेती हूँ और बाबू जी माँ बनने का यही आदर्श मुझे आज तक जिंदा रक्खे हुए है; वर्ना मरने के लिए यहाँ किस चीज की कमी है? जिस आसानी से इन्सान इस हिन्दुस्तान में मर सकता है, दुनिया के किसी मुल्क में नहीं मर सकता! लेकिन 'मदर इंडिया'—अर्थात माँ, यानी नर्गिस उन्हें मरने नहीं देती। खुद भी नहीं मरती, चाहे वह मौत लालची प्रोड्यसरों की भेजी हुई हों, चाहे रईसज़ादो की, चाहे कपटी डायरैक्टरो की, और चाहे उन लाखों फिल्म दर्शकों की, जो नर्गिस को रोमान्स से ज्यादा किसी योग्य नहीं समझते और उसके आकाश में आहों के धुएँ छोड़-छोड़-कर अपनी जिंदगी को धुँधला कर देते हैं।

बाबू जी, दरअसल मैं एक कमजोर-दिल औरत हूँ, मगर मेरी कम-जोरी मेरे सच्चे भाव हैं। मैंने फिल्मी ज़िंदगी के किसी पात्र की ईमानदारी पर शक नहीं किया। मैं समझती हूँ जैसी मैं हूँ वैसे ही सब हैं। शायद यही वजह हैं कि लोग मुझे भोली-भाली समझते हैं, लेकिन मैं क्या करूँ, भोलापन ही मेरी तकदीर है, मेरा भाग्य है। खुदा ने मुझे भोलापन ही नहीं दिया, सौंदर्य दिया, यौवन दिया, कला दी, बुद्धिमता दी; दौलत दी, यश दिया; इसलिए मुझे खुदा से कोई गिला

नहीं है, कि उसने मुझे भोली-भाली क्यो बनाया। मुझे चाहे कोई दुनिया भर की बादशाहत दे दे और कहे, कि इसके बदले अपना भोलापन वापिस दे दो, तो मैं बादशाहत पर लात मार दूँ। मैं तो कभी-कभी भगवान की इस लीला पर हैरान होती हूँ कि मैं एक भोली-भाली और कमजोर-दिल लड़की किस तरह लाखों की पूजनीय बन गई ? किस तरह एक साधारण लड़की अनगिनत मस्जिदों का द्वार बन गई ?...

अब भी कभी-कभी शाम को मैं और सुनील और नन्हा चौपाटी के समुद्र के किनारे बैठकर रेत से खेलते हैं तो सुनील जैसे डूबकर कहता है—

"नर्गिस ! तुम आज तक कहाँ थीं ?"

"मैं तुम्हारे साथ थी सुनी—मगर तुमने मुझे कभी देखा ही नहीं।"

"क्यों देखा क्यों नहीं था ?"

"मैं क्या जानूँ ! नन्हें से पूछ लो।"

—और नन्हा अपनी नन्हीं-सी मुट्ठी में रेत भरकर मेरी सफेद साड़ी पर उंडेलते हुए कहता—

"ममी तुम कहाँ थीं ? मैं तुम्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हार गया !"

"ओ नन्हें ! बड़ा नटखट है तू, मैं तो खुद तुझे ढूँढ़ रही थी।" अट्ठाइस साल तक ढूँढती रही, मगर तुम न जाने कहा चले गए थे !"

"मैं तो यहीं था, यहीं समुद्र के किनारे खेल रहा था !"

—और बाबू जी, फिर हम तीनों हँस पड़ते हैं और, फिर हँसते-हँसते सोचने लगते हैं कि हम तीनों एक-दूसरे से बिछुड़ गए थे, तीनों एक-दूसरे को ढूँढ़ रहे थे और फिर जाने हवा का क़ौन सा झोंका आया कि हम तीनों एक जगह इकट्ठे हो गए। हम तीनों की आत्माएँ आखिर भटक-भटककर एक जगह इकट्ठी हो गई; एक हो गई !

—और अब मुझे कोई चिंता नहीं बाबू जी ! आपकी प्रदान की

हुई लाठी मुझे मिल गई है। आपका स्वप्न पूरा हो गया है, और अब आप जब भी मेरे स्वप्नों में आया करेंगे तो अपनी बेटी को मुस्कराता हुआ पाएँगे—अपनी फातिमा को, नर्गिस को, मदर इन्डिया को !...

आपकी प्यारी बेटी
—नर्गिस

साहिर लुध्यानवी

"—मेरे वालिद साहब हैरान भी हुए और मग़रूर भी। चुनाँचे दूसरे दिन अपने हर जागीरदार दोस्त के सामने बढ़-हाँकते फिरते थे—अरे मेरा बेटा अब्दुल हई—तुम क्या समझते हो कोई मामूली लड़का है?···डिप्टी-कमिश्नर तक उससे हाथ मिलाता है···"

साहिर लुध्यानवी—एक इन्टरव्यू

(यह इन्टरव्यू जितना ख़याली है, उतना ही वास्तविक है, क्योंकि इन्टरव्यू लेने वाले का मत यह है कि ख़याल वास्तविकता का ही बेटा है ।)

मैं—साहिर साहब ! आदाब अर्ज !

साहिर—अरे ओ फिक्र तौसवीं ! आदाब अर्ज़ फिजूल है । पहले इधर आओ, गले मिलो । मगर नहीं, ठहरो मैं खुद आगे आता हूँ । तुमने देखा है कि इधर मेरी कुछ ज्यादा इज्जत होने लगी है । लोग समझते है मैं एक बहुत अच्छा फिल्मी शायर हूँ, सो उन्होंने मुझे एक ऐसे होटल में ठहरा दिया, जहाँ कुर्सियाँ बहुत हैं । लेकिन मैं कुर्सियाँ लाँघ जाऊँगा और तुम से आकर गले मिल लूँगा । कुर्सियों की ज्यादती को यह लोग 'लगज़री' कहते है । देखो दोस्तों से गले मिलने में एक रुकावट यह है कि मेरा कद बड़ा है । मगर बड़े कद में एक खूबी यह है कि इस पर मुझे सूट बहुत फिट आता है !—यह मेरा सूट तुम देख रहे हो—कहो कैसा है ? बड़ा आला है न ? अच्छा बताओ कितने में आया होगा ? मेरा यह सूट देखकर एक फिल्म प्रोड्यूसर ने मुझ से कहा—'साहिर साहब ! मुझे आपका वह शेर याद आ रहा है—

मिलें इसीलिए कपड़े के थान बुनती हैं'
किसी गरीब के तन पर भी चीथड़ा न रहे'

मैंने उससे कहा—'सेठ साहब ! हम प्रोलतारी लोग आला सूट

पहनने का अभ्यास कर रहे हैं, कि जब हमें आला सूट पहनने का अवसर मिले तो हमें पहनने का सलीका भी आ चुका हो !'—तुम बैठो इस कुर्सी पर। लो यह सिग्रेट पियो। यह सिग्रेट का टिन मैंने बंबई में सेठ भैंगामल झैंगामल से खरीदा था। सेठ भैंगामल झैंगामल सिग्रेट पीता नहीं है, बेचता है।

मैं—साहिर साहब ! दर असल मैं आपसे इन्टरव्यू लेने आया हूँ, क्योंकि अब आप उस स्थान पर पहुँच चुके हैं, कि जनता आपकी ज़ात में दिलचस्पी लेने लगी है।

साहिर—मैं इस शब्द—जनता—से बहुत घबराता हूँ, मगर मेरे घबराने से जनता प्रभावित नहीं होगी। मैं जानता हूँ कि जनता मेरी शायरी से प्रभावित होती है, मुझ से नहीं। मेरे जन्मदाता जनाब वालिद साहब, जो बंदूक से केवल परिंदों का शिकार करना जानते हैं, मेरी शायरी से कभी प्रभावित नहीं हुए थे, क्योंकि वह जनता नहीं थे न, जागीरदार थे, और परिंदों के साथ-साथ असामियों का शिकार किया करते थे। मेरी वालिदा से कहा करते थे—'मैं अब्दुल हई को अपना वारिस नहीं बनाऊँगा, क्योंकि यह भारी-भरकम बंदूक नहीं उठा सकता, दो तोले की कलम ही उठा सकता है ! यह मेरी असामियों को मेरे खिलाफ भड़काता है। जिस शाख़ पर बैठता है, उसी को काट रहा है।' मगर मैंने कहा, 'ऐ मेरी तकदीर के मालिक ! इस शाख़ को तो काटना ही पड़ेगा, जिसके नीचे तुमने परिंदों को फाँसने के लिये जाल बिछा रखा है।'

मैं—यह बहुत अच्छा फ़िकरा है। निहायत चुटीला।

साहिर—अच्छा है न ? तो फिर और सुनो। एक बार युद्ध के प्रोपेगन्डे के लिए लुधियाने में ब्रिटिश सरकार की ओर से एक मुशायरा किया गया। डिप्टी-कमिशनर प्रधान-पद संभाले हुए था। मेरे वालिद भी चूँकि अंग्रेजी सरकार के नमकख़ारो में से थे, सो उन्हें भी एक सभ्य व्यक्ति के तौर पर निमंत्रित किया गया। जब मैं स्टेज पर पहुँचा तो

डिप्टी-कमिशनर साहब बहादुर ने बड़ी गर्म-जोशी से मुझ से हाथ मिलाया। आज्ञाकारी वारिस की यह प्रतिष्ठा देखकर मेरे वालिद साहिब हैरान भी हुए और मगरूर भी। चुनाँचे दूसरे दिन अपने हर जागीरदार दोस्त के सामने बड़-हाँकते फिरते थे,—'अरे मेरा बेटा अब्दुल हई; तुम क्या समझते हो कोई मामूली लड़का है?···डिप्टी-कमिशनर तक उससे हाथ मिलाता है!'

मैं—साहिर साहब! बाप को अपने होनहार बेटे पर फ़ख्र तो होता ही है!

साहिर—मगर मैंने यह फख्र तोड़ दिया। जानते हो कैसे? जब उस मुशायरे में मेरी नज्म पढ़ने की बारी आई तो मैं अपने लंबे-लंबे बाजू बड़े लाउबाली अंदाज़ में हिलाता हुआ माइक्रोफ़ोन पर आया और अपनी भर्राई हुई आवाज़ में एलान किया, 'श्रोतागणों! मैं आपसे माफ़ी चाहता हूँ कि मैं अपनी नज्म नहीं सुना सकूंगा; क्योंकि जिस मुशायरे की प्रधानता एक सरकारी कारिंदा—यानी डिप्टी-कमिशनर कर रहा हो, वहाँ नज्म पढ़ना मैं अपना अपमान समझता हूँ। मेरी शायरी जनता के लिए है, फ़िरंगी सरकार के हित के लिए नहीं। यूनियन जैक का यह झन्डा जो मेरे ऊपर लहरा रहा है, यह झण्डा जनता की इच्छाओं के खून से रँगा हुआ है; लिहाज़ा ऐसे झन्डे के नीचे खड़े होकर मैं नज्म नहीं पढ़ सकता। और अब अगर डिप्टी-कमिशनर साहब चाहें तो मुझे इस बग़ावत के अपराध में जन्जीर पहना सकते हैं।'—बस फिर क्या था, वालिद साहब चूंकि सरकार की नाराज़गी बर्दाशत नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्होंने मुझे और मेरी वालिदा को अलहदा कर दिया और यह अलहदगी इस हद तक आगे बढ़ी कि विभाजन के बाद वालिद साहब अपनी बंदूक सहित पाकिस्तान जा बसे, क्योंकि पाकिस्तान ही इन जागीरदारों का पालक-पोषक था, जबकि मैं और मेरी वालिदा ने हिन्दुस्तान में रहना पसंद किया। और अब देख लो मेरे वालिद साहिब का कोई नाम तक नहीं जानता, मगर उनके

वारिस के साथ सारा ज़माना है।

मैं—तो साहिर साहब इसका मतलब है, आपकी ज़िंदगी में वालिद साहब का प्यार शामिल नहीं है।

साहिर—यह अच्छा ही है कि नहीं है; वर्ना मैं भी आज अपनी जागीर पर शिकारी कुत्ते रखा करता और असामियों पर छोड़कर अपने जंगलीपन की बढ़ाई के आनंद में डूब जाता। मगर मेरी बाग़ियाना स्पिरिट ने मुझे यह अनमोल अवसर दिया कि मैं समाज को वर्गीकरण के दृष्टिकोण से देख सकूं। मुझे मुहब्बत की कमी की कोई शिकायत नहीं रही। मेरी वालिदा ने—जो खुद भी वर्गीकरण के अत्याचार की शिकार थी, मुझे अपनी अथाह मुहब्बत प्रदान की। मेरे कालिज के स्टूडेंट्स दोस्तों ने मुझे अपनी आँखों पर बिठाया। मुझे सभ्य और शिक्षित लड़कियों ने अपने नाजुक हाथों से टोस्ट पर मक्खन लगाकर खिलाए। मुझे प्रगतिशील लेखक दोस्तों का अटूट प्यार नसीब हुआ। मुझे लूट-खसूटे जाने वाले मेहनतकशों ने अपना प्रिय गीतकार समझकर गले लगाया। और अब फिल्म-दर्शकों ने मुझे इज्जत और समानता का दर्जा दिया। इस एतबार से मैं बेहद खुशनसीब हूँ कि वालिद साहिब ने अपनी मुहब्बत का हाथ उठा लिया तो उसके बदले में मुझे मुहब्बत के अंबार मिल गए। क्या खयाल है तुम्हारा—यह सौदा कोई महँगा रहा ?

मैं—लोग कहते हैं, आप नौजवानों में बेहद प्रिय हैं, इसकी वजह क्या है ?

साहिर—अब मैं क्या कहूं कि नौजवानों को क्या तक्लीफ है कि मुझे पसंद करते हैं ! शायद इसकी वजह यह हो कि मैं खुद भी नौजवान हूँ, या शायद कोई और वजह हो। मैंने खुद अपनी आँखों से देखा है कि नौजवान लड़कियाँ मुशायरे में आकर मेरे शेर अपनी खूबसूरत नोट-बुकों पर लिखती रहती है और फिर ऑटोग्राफ लेने के लिए घेर लेती हैं। हालाँकि तुम देख रहे हो कि मैं कोई इतना खूबसूरत

नौजवान भी नहीं हूँ। मेरी नाक इतनी लंबी है कि इससे दूर की चीज़ जल्दी सूँघी तो जा सकती है, मगर इसको सौंदर्य की मॉडल नाक नहीं कहा जा सकता। मेरे चेहरे पर बचपन की चेचक के उपहार चिपके हुए हैं, लेकिन इसके बावजूद खूबसूरत से खूबसूरत नौजवान लड़के-लड़कियाँ मुझ पर जान देते हैं; तो शायद इसलिए कि मैं इच्छाओं, अभावों और दबी-कुचली बग़ावतों को शेर में ढ़ाल देता हूँ। मेरा एक शेर है न—

कहीं ऐसा न हो पाँव मेरे थर्रा जाएँ,
और तेरे रेशमी आँचल का सहारा न मिले…

यह जो हमारे इस दौर के नौजवान के मस्तिष्क में एक समाजी घुटन है—मुहब्बत में, सामाजिकता में, चरित्र में, मेरे शेर इस घुटन के विरुद्ध उनकी एक ढ़ाल बन जाते हैं, और वह मुझे अपना हीरो बना लेते हैं। क्या तुम्हारी तसल्ली हो गई या कुछ और कहूँ?

मैं—अभी पूरी तरह नहीं। अगर आप उचित समझें तो अपनी कुछ रोज़मर्रा की आदतों और दिलचस्पियों पर थोड़ी सी रोशनी डाल दीजिए।

साहिर—मेरी आदतें! सच पूछिये तो मुझ में कोई ऐसी आदत नहीं जिसका ज़िक्र मेरे चाहने वाले फ़ख्र से कर सकें! मसलन लाहौर में एक बुजुर्ग लेखक थे उनकी आदत थी चाय में केवल तीन टुकड़े चीनी डालना। एक और महानुभाव हैं जिन्हें घर-घर जाकर कहानी सुनाने की आदत है। हमारे एक प्रगतिशील लेखक साहब को गालियाँ निकालकर बेतकल्लुफी जताने की आदत है। इसी तरह एक और साहब जब फिल्म देखने जाते हैं तो पूरे समय फिल्म में कीड़े निकालते रहते हैं…! यह सब आदतें काफी महत्वपूर्ण गिनी जाती हैं, मगर मेरा दुर्भाग्य यह है कि मेरी कोई आदत महत्वपूर्ण नहीं! मसलन मुझ में सिग्रेट पीने की आदत है, जिसे हर छोटा-बड़ा पीता है। मुझे बढ़िया सिग्रेट पीने पर ताज़ है, न घटिया सिग्रेट पीने पर रँज। व्हिस्की पाने

की आदत भी है, लेकिन कोई व्यक्ति मुझे शराबी नहीं कहता, क्योंकि शराब पीने के बाद मैं कभी मेज पर खड़ा होकर लेक्चर नहीं देने लगता। सुथरे और साफ कपड़े पहनने की आदत है, जो मेरे ख़याल में हर मनुष्य को पहनने चाहिएँ। सुबह देर से उठने की आदत है। यह आदत अच्छी है या बुरी इसके बारे में मैंने कभी सोचा ही नहीं। आदत है जैसी भी है सो है। मैं इस आदत में उन लोगों की तरह क्यों दखल दूं, जो सुबह की सैर को सेहत के लिए जरूरी समझते हैं। अलबत्ता घूमने-फिरने की आदत को बेहद पसंद करता हूँ, जो मेरी किसी प्यासी बेचैनी की आदत है। दोस्तों के साथ यूं घूमते रहना कि जिस सड़क पर मुड़ गए मुड़ गए। तुम्हें एक बार खुद याद होगा मैंने तुम्हारे कंधे पर अपनी लंबी-लंबी बाँहें फैलाकर कहा था, 'आओ चलें!' तुमने पूछा था, 'किधर ?' मैंने कहा, 'आओ देखना है किधर जाना है हमें।' चुनाँचे मैं और तुम जामा-मस्जिद दिल्ली के सामने खड़ी हुई एक ट्राम पर सवार हो गए थे। जब ट्राम का अंतिम स्टेशन आ गया था तो तुमने पूछा था 'अब किधर जाना है ?' मैंने अत्यंत सादगी के साथ तुमसे पूछा था, 'अब यह ट्राम किधर जाएगी ?' तुमने कहा, 'यह वापिस जामा मस्जिद जाएगी।' तो मैंने कहा, 'चलो, इसी ट्राम पर फिर सवार हो जाएँ।' तुम हँस पड़े थे, मैं भी हँस पड़ा था। हम दोनों की हँसी में ऐसे शब्द छुपे हुए थे जिसके अर्थ शब्दों के बगैर भी स्पष्ट थे। मैं नहीं समझता ऐसा क्यों है ? नहीं शायद कुछ यूं है कि मैं वर्तमान काल के नौजवान की बेचैनी का प्रतीक हूँ, जो लक्ष्य की चाह में धुंध में भी सफर करता फिरता है। न चले तो उसकी नौजवान प्रकृति उसे लान-तान करती है। इसलिए चलना उसकी आत्मा की माँग है। यह और बात है कि चलने से भी उसे संतोष नहीं मिलता। दरअसल हमारे समाज के वर्तमान ढाँचे ने जैसे कसम खा रखी है कि अपने नौजवान को संतुष्टि देगा ही नहीं।

मैं—बहुत अच्छा परिच्छेद किया आपने। शायद यही बेचैनी है,

जो बाद में बगावत का रूप धारण कर लेती है।

साहिर—तुम्हारा परिच्छेद मुझ से बेहतर है। तुम्हें याद होगा मेरी नज्म 'ताज महल'—जिसमें एक नौजवान शाही ठाठ-बाट वाली मुहब्बत के सामने भी बाग़ियाना गुस्ताखी करके कहता है—

इक शहन्शाह ने दौलत का सहारा लेकर,
हम गरीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मजाक !
...मेरी महबूब कहीं और मिलाकर मुझ से

मैं तो क्या यह बेचैनी और गुस्ताखी आपको फिल्मी दुनिया में भी परेशान करती है—या नहीं ?

साहिर—ठहरो, इससे पहले कि कोई मारवाड़ी फिल्मी सेठ हमारी बात सुनले, आओ हम सामने चलकर एक-एक पान खा लें। तुम्हें याद होगा एक बार गोर्की से एक सीधे-साधे अनपढ़ किसान ने सवाल किया था—'गोर्की साहब ! एक बात मेरी मामूली-सी समझ में नहीं आई, कि जो पूंजीपति आपके ख़यालों का दुश्मन है, वही पूंजीपति आपके ख़यालों को किताबी सूरत में क्यों छाप देता है ?'—मेरी स्थिति भी बिल्कुल गोर्की से मिलती-जुलती है। बांबे वाला सेठ लोग मुझसे गीत माँगता है और कहता है—'मुंशी शायर साहब शाला ऐसा गाना लिखो जिस पर चार आने क्लाश वाला हर बोल पर ताली पीटे। सुना है तुम मजूर लोगों के हक में बड़ा फर्स्ट क्लास गाना लिखना मारता है। सो हमारे पिक्चर में भी ऐसा ही गाना मारो कि शाला मजूर लोग तड़प उठे।'—चुनाँचे मैं लिख देता हूँ, जिस पर मजदूर की रगों में जोश और लहू भर जाता है। मेरी संतुष्टि हो जाती है कि मैं ने अपना अंतःकरण नहीं बेचा। सेठ की सन्तुष्टि हो जाती है कि उसकी फ़िल्म हिट हो गई। मगर सच मानो तो इसके बाद मेरी बेचैनी और भी बढ़ जाती है। पूंजीवादी समाज में, पूंजी के बलबूते पर पूंजीपति फिलमसाज की माँग पर गीत लिखना कितनी दिमाग़ी तकलीफ पहुँचाता है, हमारी बेबसी की कितनी तेज अनुभूति पैदा करता है इसे कुछ मैं ही जानता हूँ। दरअसल हम दो पाटन के बीच में पिस रहे हैं, मगर इस उम्मीद पर जी रहे

हैं कि हमारा भी जमाना आएगा। कोई और सवाल ?

मैं—सिर्फ एक। आप गीत या नज्म किस तरह लिखते हैं ?

साहिर—यह सवाल न पूछते तो अच्छा था, क्योंकि इसका जवाब सुनकर मेरे कई दोस्त जो एक रात में पचास पंक्तियों की नज्म लिख डालते हैं, परेशान हो जाएँगे। बात यह है कि मैंने कभी गाव-तकिया लगाकर नज्म नहीं लिखी। मेरी एक नज्म को पूरा होने में दो-दो महीने लग जाते हैं, क्योंकि मैं बाहूबल से नहीं लिखता, बल्कि सोच-समझकर लिखने का कायल हूँ। यह हो सकता है कि मेरी नज्म की आखिरी पंक्ति सबसे पहले लिखी जाय, बीच की पंक्तियाँ सबसे आखिर में हों, और पहले भाग की पंक्तियाँ पूरी करने के लिए मुझे कई सड़कों कई गाड़ियों और कई हवाई जहाजों में घूमना पड़े। जरा अंदाजा लगाओ कि अचानक जाते-जाते मैं अपने एक दोस्त से कहता हूँ—सुनो मेरे मस्तिष्क में एक नज्म की पंक्ति यूँ आई है कि···कि···। मैं इस अवसर पर अपनी लंबी-लंबी उँगलियाँ हवा में यूँ घुमाता हूँ जैसे इस पंक्ति को आयातकार या वर्गाकार बना रहा हूँ। तो यूं होगा कि···ऐसा न हो···कि ऐसा न हो···घबरा जाय। नहीं यूँ नहीं, यूँ होगा—थर्रा जाय। क्या थर्रा जाय, बताओ क्या थर्रा जाय?···पैर···कदम या क्या? नहीं ठीक है—पाँव···पाँव मेरे थर्रा जाएँ। गोया पंक्ति कुछ यूं बनेगी—

कहीं ऐसा ना हो पाँव मेरे थर्रा जाएँ
और तेरे रेशमी आँचल का सहारा न मिले···

मैं—(हँसकर)—हाँ क्यों नहीं ? लोग कहते हैं तो फिर ठीक ही कहते होंगे !

साहिर—मगर यह तो मेरी एक नज्म की पंक्ति तुमने पढ़ दी !

मैं—हो सकता है तुम्हारी हो। मैं नहीं जानता—मगर पंक्ति मुझे अच्छी लगी। इसलिए याद हो गई। अगर तुम्हारी है तो फिर तुम भी ठीक ही कहते होंगे। अच्छा आदाब-अर्ज ! मेरा इण्टरव्यू पूरा हो गया। अब चाय मँगाओ ··

लता मंगेशकर

"—यह ठिगना कद; यह दुर्बल शरीर; यह सपाट चेहरा; बेजान नैन-नक्श। मैं पूछती हूँ, क्या सरस्वती ऐसी होती है?..."

लता मंगेशकर

मैं लता मंगेश्कर हूँ—

मेरा ख़याल है कि मेरी इतनी जान-पहचान काफी है कि मैं लता मंगेशकर हूँ, क्योंकि लता मंगेशकर केवल एक नाम नहीं हैं बल्कि एक संस्था है, क्योंकि यह नाम होठों पर आते ही, हज़ारों रिकॉर्ड रगों में बज उठते हैं। दिमाग में संगीत की आंधियाँ चलने लगती हैं।

आप इसे मेरा गौरव कह लें या कुछ और (मेरा ख़याल है, गौरव ही कह लें), कि सन्सार का कोई रेडियो-स्टेशन मेरी आवाज़ के बिना फीका है। हवा के जितने मार्ग हैं, मेरी आवाज की चापों से भरपूर हैं। हिन्दुस्तान के जिस बच्चे ने मेरी आवाज नहीं सुनी वह बच्चा अभी अपूर्ण है !

मगर इससे यह न समझिए कि मैं अभिमानी हूँ—नहीं, गंभीरता और नर्मी मेरी घुट्टी में पड़ी हुई है। मेरा जन्म अट्ठाइस सितंबर १९२९ को उस समय हुआ जब रात गंभीर थी और चाँद नर्म था, और मीठी-विशाल चाँदनी हर तरफ फैली हुई थी, और दूर, इंदौर के करीब एक छोटी सी पहाड़ी पर कोई झरना 'तरिल, तरिल, तरिल' का धीमा-धीमा नग़मा सुना रहा था। उस वक्त मेरे पिता—यानी मेरे संगीत-गुरु और प्रसिद्ध संगीतकार दीनानाथ मंगेशकर ने मेरी माँ से कहा था—'तुमने नन्हीं के रोने की आवाज़ सुनी ? इस आवाज़ में मुझे वह ही जादू दीख रहा है, जो झरने की तरिल-तरिल में है। मुझे यह

आवाज़ सुनकर यूँ महसूस हो रहा है, जैसे सरस्वती ने हमारे घर में जन्म लिया है !'

—और मेरे पिता जी ने बाद में मुझे बताया—'लता बेटी ! मेरी यह बात सुनकर तुम्हारी माँ की आँखों में पहले चमक पैदा हुई, फिर उसने तुम्हारी ओर देखा और जैसे बुझ गई। और उदास स्वर में बोली, 'यह ठिगना कद, यह दुर्बल शरीर, यह सपाट चेहरा, बेजान नैन-नक्श ! मैं पूछती हूँ क्या सरस्वती ऐसी होती है ?'

'हाँ ऐसी होती है' मेरे पिता जी ने जवाब दिया। 'संगीत की केवल आत्मा सुंदर होती है, शरीर नहीं। शरीर तो केवल रानियों-महारानियों का सुंदर होता है।'

मेरे पिताजी की भविष्यवाणी सच निकली। परमात्मा ने मुझे स्वर और लय प्रदान की—गुलाबी होंठ, सुराही जैसी गर्दन और मोरनी जैसी चाल प्रदान नहीं की। परमात्मा का शायद यही न्याय है कि इन्सान को कभी पूरा नहीं बनाता; वर्ना पूरे इन्सान और परमात्मा में कोई अंतर न रहता और यह ब्रह्मान्ड उजड़ जाता और लता मंगेशकर के गाने से वंचित रह जाता।

आप मुझे दूर से देखें तो एक गुमसुम मामूली-सी लड़की दिखाई देती हूँ। जब लोग यह सुनते हैं कि यह गुमसुम सी लड़की एक गाने के एक हजार रुपए लेती है, तो वह परेशान हो जाते हैं, लेकिन वह नहीं जानते कि मेरे स्वभाव में चतुराई नहीं है, गुमसुम रहना मेरी आदत है, गुमसुम रहना मेरी तपस्या है; और ऐसी तपस्या या तो राग, कला के हिस्से में आती है, या ऋषि-मुनियों के हिस्से में। मैं बहुत कम बोलती हूँ और जितना कम बोलती हूँ, उतना ही मेरी आवाज़ में रचाव बढ़ता है। शायद मेरी आवाज़ का ताना-बाना चुप के धागों से बुना जाता। मेरे मित्र जो पहले ही बहुत कम है शिकायत करते हैं—लता, तुम्हें सभा में खुलकर हँसना चाहिए, चहचहाना चाहिए। तुम देखती नहीं, दूसरी गायिकाएँ कितनी बातूनी होती हैं।' स्त्री होकर

इतना कम बोलती हूँ, खेद है।

लेकिन मैं बावजूद बनावटी कोशिश के भी खुलकर मुस्करा नहीं सकती। कुछ लोग कहते हैं कि जब मैं सभा में मुस्कराती हूँ तो उस मुस्कराहट में शोला नहीं होता। बातचीत में चमक नहीं होती, जिससे सभा में मेरा रौब नहीं जमता। मगर मैं जवाब में केवल आँखें नचाकर रह जाती हूँ, क्योंकि मेरे चेहरे पर केवल आँखें ही हैं, जो बोलती हैं। हर आदमी ने मेरी आँखों की प्रशन्सा की है, बल्कि एक मसख़रे ने तो यहाँ तक कह दिया था, कि लता अगर सन्सार में हिरन न होता तो लोग केवल तुम्हारी आँखों को प्रतीक बना लेते ! तुम मृग-नयनी हो, वही मतवाली और जादुई आँखें, वही झुकी-झुकी लंबी पलकें, जिनमें से हर पल एक नर्म-नर्म ज्योति फूटती रहती है। आप शायद यह सुनकर हँसे कि मैंने कई बार अकेले में अपनी आँखें देखी हैं, इनमें वाकई एक आकर्षण है। स्वयं मैं कई बार अपनी आँखों पर झूम उठी हूँ। (अपने मुंह मियाँ-मिट्ठू बनना कितना मुश्किल है)।

यद्यपि यह भी ठीक है कि मैं हिरनी की तरह कई बार अपने पाँवों को देखकर रोई भी हूँ, क्योंकि मैं गायिका जरुर हूँ मगर स्त्री भी हूँ, और स्त्री का यह अधिकार है, कि उसे स्त्रियों का सा सौंदर्य हासिल हो। लेकिन मैंने प्रायः अपने इस स्त्रीत्व को जबरदस्ती दबाया है, और फिर इस दबाव के बोझ को हल्का करने के लिए यह भी सोचा है, कि छोड़ो लता हर बड़ा कलाकार शारीरिक सुंदरता से वंचित रहा है—बर्नाड-शॉ, चार्ली-चैपलिन, शमशाद बेग़म और जिगर मुरादाबादी—इस लिस्ट में लता मंगेशकर का नाम भी अगर बढ़ा दिया जाय, तो लिस्ट की शान बढ़ जाएगी, कम नहीं होगी।

यही वजह है कि मुझे आडंबर और ठाठ-बाट से घृणा है। स्त्रियों वाली तड़क-भड़क से बैर है। शोख़ और रँगीले पहनावे मुझे नहीं भाते, केवल एक सफेद साड़ी और सोने के एक-दो मामूली गहनें, और बस। इस सादगी के साथ जब मैं हर रोज़ सुबह-शाम अपने पिता और अपने

गुरू श्री दीनानाथ मंगेशकर की तस्वीर की आरती उतारती हूँ, तो मुझे यूँ लगता है जैसे मैं एक देवदासी हूँ; जो आकाश से धरती पर उतर-कर आई है। जो न केवल स्वयं पूजा कर रही है, बल्कि जिसकी पूजा भी हो रही है।

वर्ना क्या मेरा बैंक-बैलेन्स इतना भी नहीं है, कि मैं किसी महारानी का सा पहनावा खरीदकर अपने तन को सुशोभित कर सकूं ?···

जब कोई कलाकर इतना प्रसिद्ध हो जाय कि लोग उसके स्वप्न देखने लगें, तो प्रशन्सक अपनी कामनाओं के होंठ लटकाकर पूछते हैं, 'अच्छा साहब यह बताइये लता खाती क्या है, पीती क्या है, पहनती क्या है, पढ़ती क्या है ? क्या उसे घुड़सवारी का शौक है ? क्या उसे तोते पालने का चाव है ? वह फुरसत का समय कैसे गुजारती है, क्या उसे चित्र बनाने से लगाव है ?···आदि-आदि।

मगर मैं बिल्कुल 'आदि-आदि' नहीं हूं। मेरी कोई हॉबी नहीं। मेरी हॉबी है, गाना—गाना—गाना। बस गाते चले जाना। आज तक लगभग एक हजार गाने गा चुकी हूँ। जिस लता को गाने का इतना जनून हो, वह कोई और जनून कैसे पाल सकती है ? अगर मैं कहूँ कि मुझे साग पसंद है, गोभी नहीं, तो क्या इससे गोभी की सत्ता ऊँची हो जाएगी ? अगर मैं कहूँ कि मैं व्हिस्की नहीं पीती, केवल सादा पानी पीती हूं, तो क्या इससे शराब-बंदी की पोलिसी को सहायता मिल जाएगी ? और अगर मैं यह कहूँ कि मैं सारी आयु क्वारी रहना पसंद करती हूं, तो क्या इस बात पर पुरुषों की बाँछें खिल उठेंगी ? मेरा खयाल है ऐसा न होगा। और अगर ऐसा होता है तो लोगों को अपना दिमागी सुधार कर लेना चाहिए, क्य।।क लता के बारे में ऐसे मामूली सवाल करना उसकी कला और विशालता से आँखें मूंदना है।

बस यूँ समझ लीजिए कि मुझे फुर्सत का समय नसीब ही नहीं। मेरा हर पल संगीत की मुट्ठी में है। अगर संगीत की मुट्ठी में न होता और मेरे हाथ में होता, तो मैं उस समय को घुड़दौड़ या टिकटें जमा

करने में लगा देती, और हिन्दुस्तान की बहुत सी फिल्म-कंपनियाँ मेरे गीतों के वियोग में बंद हो जातीं।

मैंने कई लोगों को यह खुसर-पुसर करते सुना है—"क्या लता ने किसी के साथ रोमान्स नही किया ? क्या लता का ब्याह नहीं हुआ ? अब तो वह बत्तीस वर्ष की होने वाली है !"

यह खुसर-पुसर सुनकर मुझे कोई तक्लीफ नहीं होती, क्योंकि मैं उस महाराष्ट्र की बेटी हूं जिसकी मिट्टी ने दृढ़ आदर्श वाले हीरो पैदा किए हैं। रोमान्स तो एक रस्म है। ब्याह उससे छोटी दर्जे की रस्म है। लेकिन जब एक मराठा-पुत्री ने पक्के इरादे से यह तयकर लिया है, कि मेरा ब्याह मेरे संगीत से हो चुका है, तो मैं इस वचन से कैसे पीछे हटूं ? रोमान्स करना छिछोरों का काम है, प्रेम करना गृहस्थियों का ! मगर मैं इन दोनों से ऊँची हूँ। मैं इस ऊँचाई पर बैठकर ही वह अलाप कर सकती हूँ, जो धरती को तड़पा दे और वह उस जादू-भरी वादी में पहुँच जाएँ जहाँ सितारे हैं, रँग हैं, नर्मी है, झरने हैं, झूलने हैं !···

मैं सुहाग-चूड़ी के छनाके और आटे-दाल की धरती पर नीचे नहीं उतर सक्ती, इसलिए मैं ब्याह नहीं कर सकती। रोमान्स के लिए मेरे पास एक मिनट भी खाली नहीं है। एक बार की बात है मेरे एक पत्रकार मित्र ने पूछा था, "लता जी आपने माँग में यह सिंदूर कैसे भर रखा है, क्या आपने व्याह······?"

मैं समझ गई वह क्या कहना चाहता है, इसलिए मैंने मुस्कराकर उसकी बात काट दी और कहा, "हमारे महाराष्ट्र का यह कल्चर है, कि कुमारियाँ भी सिंदूर भरती हैं।"

मैं अलग-अलग रहना पसंद करती हूँ। गुल-गपाड़े से मुझे कोई लगाव नहीं। शोर मेरे मन की शांति को भँग कर देता है। यही वजह है कि मैं सामाजिक सन्स्थाओं से दूर रहती हूँ। फ़िल्मी वातावरण की जोड़-तोड़ से बेपरवाह रहती हूँ। हमारे कई फ़िल्म स्टार जोर-शोर से

मीटिंगें करते हैं, जलूस निकालते हैं, जलसे करते हैं, कभी अकाल-पीड़ितों के लिए चंदा, और कभी बाढ़-पीड़ितों के लिए। इस तरह वे लीडरों की पंक्ति में खड़े हो जाते हैं। मगर मैं लीडर बनना पसंद नहीं करती। किसी पोलिटिकल लीडर के साथ फ़ोटो खिंचवाकर यह एक्टर लोग फूले नहीं समाते, पर मैं इस प्रकार की बनावट से हमेशा कतराती हूँ, और यह सोचकर उन पर हँस देती हूँ—बेचारे प्रसिद्धि के भूखे, राजनीतिक नेताओं के दरबारी...! ये क्या जाने कि लता तो करोड़ों हिन्दुस्तानियों के दिलों पर राज करती है।... वह करोड़ों दिलों की लीडर है!

यह करोड़ों दिलों की बात मैं मजाक में नहीं कह रही। मैं हिन्दुस्तान की एक मात्र कलाकार हूँ जिसकी आवाज हर प्रदेश और भाषा के अंदर गूँजती है, क्योंकि मैंने हर भाषा में गीत गाए हैं—हिंदी में, उर्दू में, पंजाबी में, तमिल और तेलगू में, बंगाली और कन्नड़ में, यहाँ तक की लंका की भाषा सिंहाली पर भी मेरी आवाज और मेरे गीतों की छाप पड़ चुकी है। और इसे आप परमात्मा की देन ही समझिए कि हर भाषा में मेरी आवाज, उसी भाषा की आवाज मालूम होती है। अगर आज भारत की राजनीति का स्टैण्डर्ड संगीत को बना दिया जाय, और पौलिंग-बूथ पर वोट डालने वालों को केवल यह सुविधा दी जाय, कि संगीत के आधार पर अपना सबसे बड़ा पोलिटिकल नेता चुन लो, तो शायद लता के सिवाय बाकी सारे बॉक्स खाली नजर आएँ।

लेकिन डरने की कोई बात नहीं, मैं भारतीय राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं लेती, और मैं उम्मीदवार बनकर किसी पोलिटीकल लीडर के लिए खतरा नहीं बनना चाहती।

एक बार एक गंभीर किस्म के पढ़े-लिखे आदमी ने मुझसे सवाल किया, 'लता साहिबा क्या आप समझती हैं, कि आप हल्के-फुल्के गाने गाकर हिन्दुस्तान की कोई सेवा कर रही हैं?'

स्पष्ट है कि इस सवाल में ईर्ष्या थी। सवाल पूछने वाला शायद मुझ पर यह चोट कर रहा था, कि हिन्दुस्तानी संगीत के इतिहास में मेरा कोई स्थान नहीं। इसलिए मैंने भी उसे छेड़ने की नीयत से कहा—"तो आपका मतलब है कि मैं पक्के राग गाया करूँ?"

"वह तो आपके बस का रोग नहीं!···यह ऊँचाई आपके भाग्य में कहाँ?"

"तो फिर मैं स्वीकार करती हूं, जो कुछ मेरे बस में है, वही पेश करती हूँ, और चूँकि भारतीय जनता मेरे प्रदर्शन पर सर धुनती है इससे साफ है कि मैं उनके दुख-दर्द की मरहम हूँ। वे रोना चाहते हैं, तो मैं उनको आँसू प्रदान करती हूँ। वह अपने प्रेमी की याद में ठण्डी आहें भरना चाहते हैं, तो मैं उनकी झोलियाँ आहों से भर देती हूं। वे प्रेमिका के आने पर खुश होना चाहते हैं, तो मैं उनके होठों पर मुस्कराहट के फूल खिला देती हूँ। वर्षा की छमछम हो या पतझड़ के दर्द से चूर गीत, मैं उन्हें सब प्रदान करती हूँ। देश का प्रेम, क्रांति की कामना, शांति की तड़प—मुझे हर चीज में वे मौजूद पाते हैं। और अगर यह सब कुछ सेवा नहीं है तो क्षमा कीजिए राग बिलंपत या ठुमरी भी कोई खास सेवा नहीं है, (बल्कि कतई सेवा नहीं है)।

मेरा यह जवाब सुनकर वे अपना-सा मुँह लेकर रह गए और केवल इतना कह सके, "लता मैं तो समझता था आप केवल गा सकती हैं, लेकिन आप तो वाद-विवाद भी कर सकती हैं!"···

कुछ लोग मेरे गाने सुनकर इतने बेचैन हो जाते हैं कि मुझे प्रेम भरे पत्र भेजने शुरू कर देते हैं। मुझे फिल्म स्क्रीन पर आकृति में देखना चाहते हैं। लेकिन मैं न उनके पत्रों के जवाब दे सकती हूँ, न स्क्रीन पर आ सकती हूँ, बल्कि स्क्रीन के पीछे बैठकर गाती रहती हूँ। ऐसा नहीं है कि मुझे एक्टिंग नहीं आती, बल्कि मैंने कई हिंदी और मराठी फ़िल्मों में काम भी किया है। लेकिन सच कहना अगर जुर्म न हो तो बात यह है, कि मेरी बात नहीं बनी। मैं एक असफल फिल्म-स्टार और

एक सफल प्ले-बैक सिंगर हूं। शायद कोई शक्ति मुझे पर्दे के पीछे बिठाकर काम लेना ज्यादा अच्छा समझती है। यद्यपि इस परदे के पीछे बैठकर मेरी कई बहनों ने (मेरी सगी बहनों ने भी) मेरे मुकाबले पर आवाज का जादू जगाने की कोशिश की मगर…!

वे मुझसे ईर्ष्या करती हैं। मुझ से जलती हैं, कपट-द्रोह करती हैं। मगर मैं इन तमाम चीजों का मुकाबला नहीं करती, बल्कि गाती रहती हूं…गाती रहती हूँ। अगर मैं गाती न रहती तो मेरी जैसी मामूली लड़की किसी शरीफ़ से सरकारी कर्मचारी के घर बैठकर चूल्हा सुलगा रही होती।…